हिन्दी-सुमन-गुच्छ

Hindi-Sumana-Guccha

[Selections from Hindi Prose and Verse
for the MATRICULATION Examination]

INTENDED FOR THE USE OF SCHOOLS.

COMPILED BY
BANARSI DAS JAIN, M.A., Ph. D.,
Lecturer in Hindi, Oriental College, Lahore.

PUBLISHED BY
THE UNIVERSITY OF TH
LAHORE

1943.

PREFACE

The present selections of Hindi prose and poetry are specially designed to furnish the necessary amount of reading for students preparing for the Matriculation Examination of the Panjab University. In making these the following points have been kept in view :—

1. At this stage the reader is expected to be able to understand with fair amount of clearness and ease different styles of modern Hindi prose and easy poetry of different periods.

2. Such passages (despite their poetic and literary beauty) as incline towards obscenity or are such as cannot be fully explained without transgressing the line of modesty and class-seriousness have been carefully left out.

3. The selections cover a wide range of subjects and ideas. This variety, it is hoped will go a great way in warding off dullness and monotony from the studies of boys and girls who are naturally fond of change and variety.

4. The passages are selected complete in themselves and some of them are of considerable length to provide material for several consecutive lessons so that the students may cultivate the faculty of sustained attention,

Here I must express my thanks to the authors and publishers of the works from which these selections have been made.

Oriental College
Lahore.
26-10-31

JARSI DAS JAIN.

विषय-सूची

गद्य-भाग

पद्य-भाग

——:o:——

हिन्दी-सुमन-गुच्छ
गद्य भाग
१
गुरु गोविन्द सिंह के पुत्रों का आत्म-बलिदान

जिस समय गुरु गोविन्द सिंह अपनी माता और सात तथा नौ वर्ष के दोनों पुत्रों को साथ लेकर आनन्दगढ़ का किला छोड़ कर बाहर निकले, उस समय अचानक ही मुसलमानों ने उन पर आक्रमण कर दिया। उसी आक्रमण में उनकी माता और दोनों पुत्र उनसे अलग हो गये। साथ के और सब लोग तो छूट गये, केवल एक पुराना रसोइया इन लोगों के साथ रह गया। इन तीनों को अपने मकान पर ले जाकर उस रसोइये ने पहले तो उनकी जवाहिरात की पेटी चुरा ली और फिर उन लोगों को मुसलमान कोतवाल के हाथ पकड़वा दिया। कोतवाल ने उन लोगों को अपने हाकिम सूबा सरहिन्द के पास भेज दिया। सूबा सरहिन्द को गुरुगोविन्द सिंह ने अनेक बार परास्त किया था, इसलिये उनके परिवार के लोगों से बदला लेने का उसने यह बहुत अच्छा अवसर समझा। सूबा ने दोनों बालकों को अपने दरबार में बुलाया और उनसे कहा कि तुम लोग स्वयं मुसलमान बन जाओ और नहीं तो बलपूर्वक मुसलमान बनाये जाओगे। पर नौ वर्ष के बड़े बालक ज़ोरावर ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि

हम अपना धर्म कदापि नहीं छोड सकते। सूबा ने दोनों बालकों को बहुतेरा समझाया, तरह तरह के झूठे सच्चे लालच दिये, डराया, धमकाया और यहां तक कि प्राणदण्ड भी सुनाया, पर दोनों बालकों ने उसकी एक बात भी नहीं मानी, दोनों अपनी बात और अपने सिद्धान्त पर डटे रहे। केवल यही नहीं बल्कि प्राणदण्ड की बात सुन कर नौ वर्ष के बालक जोरावर ने भरे दरबार में सूबा से कहा कि अगर तुम्हें अपनी बहादुरी का घमण्ड हो तो मुझे तलवार दो और तब देखो कि मुझे मारना सहज है या कठिन। सूबा के साथ जोरावर का बहुत देर तक वाद-विवाद होता रहा पर जोरावर ने अपना धर्म छोड़ मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। उसका सात वर्ष का छोटा भाई भी बराबर तन कर खड़ा रहा और तनिक भी विचलित न हुआ। सात और नौ वर्ष के बालक और इतना नैतिक साहस! शत्रुओं से भरे हुए दरबार में इतनी दृढ़ता और इतनी निर्भीकता! इसी लिये हमने इन्हें धीर और साहसियों की उदाहरण-माला का सुमेर कहा है। अस्तु, दोनों बालकों की दृढ़ता देखकर सूबा और उसके सब दरबारी अवाक् रह गये। पर सूबा बदला लेना चाहता था। इसलिये उसने उन दोनों को एक घण्टे तक सोचने और अपना भविष्यत्कर्तव्य निश्चित करने का अवसर दिया। इसी बीच उसने एक बार छोटे बालक फतहसिंह को अलग जाकर भी पूछा कि तुम मुसलमान होगे या प्राण दोगे? उसने स्पष्ट कह दिया कि हम लोग कभी अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे चाहे प्राण रहें और चाहे जायें। अन्त में विवश होकर सूबा ने काज़ियों से पूछा कि इन बालकों को कौनसा दण्ड दिया जाना चाहिये। सब लोगों ने बहुत कुछ सोच-विचार कर यह निश्चय किया कि दोनों को एक स्थान पर खड़ा करके उनके चारों ओर ईंटों की चुनाई आरम्भ कर देनी चाहिये और साथ ही बराबर बीच बीच में उनसे पूछते भी जाना चाहिये कि अब भी मुसलमान होना स्वीकार है या नहीं, यदि वे बराबर इनकार ही करते जायें तो इस प्रकार उन्हें दीवार में चुन देना चाहिये। सात और नौ वर्ष के दोनों बालक फिर सूबा के सामने खड़े किये गये और उन्हें दिये

जाने वाले दण्ड का स्वरूप समझा कर पूछा गया कि बतलाओ और खब सोच समझकर बतलाओ कि अब भी तुम्हें मुसलमान होना स्वीकार है या नहीं। उन्होंने उत्तर दिया—हम लोग पहले ही खूब सोच समझ चुके हैं। हमें मुलमान होना स्वीकार नहीं है। तुरन्त शहरपनाह की दीवार एक जगह से गिरबा दी गई और दोनों बालक वहां खड़े कर दिये गये। ईंटों की चुनाई होने लगी। जब घुटनों तक हो चुकी तब उनसे कहा गया कि यदि अब भी तुम लोग मुसलमान होना स्वीकार करोगे तो बच सकते हो। पर क्या कभी धीर और साहसी अपना सिद्धान्त और न्यायपथ छोड़ सकते हैं ? दोनों बालकों ने "अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" वाली उक्ति चरितार्थ कर दिखाई। दूसरी बार कमर तक और तीसरी बार गले तक चुनाई होजाने पर भी उनसे यही प्रश्न किया गया, पर वे अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। एक बार बड़े भाई ने छोटे भाई की ओर उसके मन की अवस्था जानने को देखा। छोटे बालक ने कहा—भैया कोई चिन्ता नहीं है। पिता जी ने कहा है—

चित चरण कमल का आसरा,
चित चरण कमल संग जोड़िये।
मन लोचे बुरयाइयां गुरु—
शब्दीं यह मन होड़िये।
बांह जिन्हां की पकड़िये,
सिर दीजे बांह न छोड़िये।
गुरु सांचा सतगुरु बोलया,
धर पैये धरम न छोड़िये॥

चिन्ता ताकी कीजिये, जो अनहोनी होय।
यह मारग संसार में, नानक थिर नहिं कोय"

धन्य ! धन्य ! ऐसी दृढ़ता और निर्भीकता ! इतना धैर्य और साहस ! पराकाष्ठा हो गई। ईंटें बराबर चुनी जा रही थीं और बराबर वही प्रश्न उनसे

होता था। गले तक, ठोढ़ी तक, नाक तक, माथे तक और अन्त में दोनों बालकों के सिर के ऊपर भी ईंटें चुन दी गईं, पर बालक तनिक भी विचलित न हुए, ज़रा भी न घबराए, पहाड़ की तरह अपने निश्चय पर अटल रहे। क्यों? इसीलिये कि उन में धैर्य और साहस का बल था। इस से अच्छा दूसरा उदाहरण और आदर्श कदाचित् मिल ही नहीं सकता। युद्ध-क्षेत्र में जाकर तो कायरों और काठ के पुतलों में भी साहस और वीरता का संचार हो जाता है, पर वास्तविक वीर वही होता है जो केवल अपने मनो देवता की आज्ञा का पालन करने के लिये एकान्त स्थल में—जहां उसे कोई सहायक नहीं दिखलाई देता; कोई उत्साह-वर्द्धक शब्द सुनाई नहीं पड़ता—रहकर भारी विपत्तियां सहने और अपने प्राण तक दे देने के लिये तैयार होता है। वह सब कुछ स्वीकार करता है पर अपने मनो-देवता के सामने कभी अपराधी बनना स्वीकार नहीं करता। समय कभी ऐसे मनुष्यों की कीर्ति और यश का नाश नहीं कर सकता; बल्कि प्रायः उनकी वृद्धि में सहायक होता है।

(मानव-जीवन)

—०:—

२
जुगनू

यह मेरी समझ में नहीं आता कि जुगनू क्यों हमारे उपहास का पात्र है ? जान पड़ता है, चन्द्र-सूर्य आदि बड़े प्रकाशों के संसार में रहने के कारण ही जुगनू का इतना अपमान है। जहां अल्पगुण-विशिष्ट व्यक्ति का उपहास करना होता है, वहीं वक्ता या लेखक जुगनू का आश्रय ग्रहण करते हैं। किन्तु मुझे देख पड़ता है कि जुगनू के थोड़ा हो या बहुत, प्रकाश तो है। कहां हमारे तो कुछ भी प्रकाश नहीं है। इस अन्धकार में पृथ्वी पर जन्म लेकर हम किस मार्ग में प्रकाश डाल सके हैं ? किसने हमें देख कर अन्धकार में, दुस्तर मैदान में, दुर्दिन में, संकट में कहा है कि आओ भाई, चलो चलो, वह देखो, प्रकाश हो रहा है—चलो, यही प्रकाश देख कर राह चलो। अन्धकार है। इस पृथ्वी में भाई बड़ा अन्धकार है। राह चलना कठिन है। जब चन्द्र-सूर्य रहते हैं तब राह चलता हूं—नहीं तो चल नहीं सकता। तारागण आकाश में उदय होकर कुछ प्रकाश अवश्य करते हैं, किन्तु दुर्दिन में—दुःसमय में जब मेघ की घटा, बिजली की छटा, गत और घोर वर्षा होती है तब कोई नहीं होता। मनुष्य निर्जित वन्य की तरह वे भी कहते हैं—Hora non numero visi serenos*। केवल तुम जुगनू क्षुद्र क्षीण प्रकाश वाले, घृणित सहज में मार डालने योग्य, सर्वथा मरे रक्खे हुए तुम जुगनू—उस अन्धकार दुर्दिन में, वर्षा में, देख पड़ते हो। तुम ही अंधकार में प्रकाशमान हो।

---

*शान्तिमय घड़ियां कम ही दिखाई देती हैं।

तुमको प्यार करता हूं। मैं तुमको प्यार करता हूं। क्योंकि तुम में थोड़ा, बहुत
ा, प्रकाश है। तुम भी अंधकार में हो और भाई मैं भी घोर अंधकार में हूं। अंधकार
या सुख नहीं है? तुम भी बहुत अंधकार में घूमे हो, भला बताओ, अन्धकार में
नहीं है? जब आधी रात की बदली की अन्धकार में जगत ढंक जाता है,
होती है, बंद हो जाती है और फिर होने लगती है--चन्द्रमा नहीं, तारा नहीं,
काश की नीलिमा नहीं, पृथ्वी पर दीपक नहीं, खिले हुए फूलों की शोभा तक
ीं—केवल अन्धकार ही अन्धकार होता है—केवल अन्धकार ही होता है और
होते हो। बतलाओ अन्धकार में क्या सुख होता है? उस समय अन्धकार-पूर्ण
गार और तुम ही होते हो। जगत में अन्धकार होता है और श्यामल स्निग्ध
ों की पत्तियों के बीच तुम चमकते फिरते हो। बतलाओ भाई उस अन्धकार
सुख है या नहीं? मैं तो कहता हूं कि है। नहीं तो किस साहस से तुम बस
न्धकार की बढ़िया में और मैं इस सामाजिक अन्धेरे में, इस घोर दुर्दिन
, संसार को अपने प्रकाश से प्रकाशित करने की चेष्टा करते हैं? हैं, अन्धकार
मग्न होने में सुख-आमोद है। कोई देखेगा नहीं। अंधकार में तुम ज्वलित
ओगे और अन्धेरे के अन्धकार में मैं जलूंगा: अनेक ज्वालाओं से जलूंगा।
ीवन का तात्पर्य समझने में, अत्यंत कठिन, अत्यन्त गूढ़ और अत्यन्त
ंकर है। सोचो तो क्षुद्र होकर तुम क्यों प्रज्वलित होते हो, और क्षुद्र होकर मैं
ी क्यों जलता हूं? तुम क्या इस बात को सोचते हो? तुम अगर नहीं सोचते
ो तो तुम सुखी हो। मैं सोचता हूं, मैं असुखी हूं। तुम कीट हो और मैं भी
कीट—अत्यन्त क्षुद्र कीट हूं। तुम सुखी हो। मैं किस पाप से असुखी हूं? तुम
क्या सोचते हो कि तुम जगत् के प्रकाशक सूर्य क्यों नहीं हुए! आकाश और
समुद्र की शोभा चन्द्रमा क्यों नहीं हुए? क्यों न वही हुए! तुम क्या कभी
सोचते हो कि ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, छाया-पथ आदि कुछ न होकर तुम जुगनू ही
क्यों हुए? जिस ईश्वर ने इन सब चीजों की सृष्टि की है उसी ने तुम्हारी भी सृष्टि
की है--जिसने इन सब को प्रकाश दिया है उसी ने तुमको भी प्रकाश दिया है।

उसी ने एक को बड़ा और दूसरे को छोटा क्यों बनाया है ? अंधकार में इतना घूमकर सोचने से तुमने कुछ जाना है ? तुम सोचो या न सोचो, मैं सोचता हूं । मैंने सोच कर निश्चय किया है कि विधाता ने तुम को और मुझ को केवल अन्धेरी रात के लिये ही भेजा है। तुम्हारा और सूर्य का प्रकाश एक ही है—दोनों ही जगदीश्वर के दिए हैं--तथापि तुम केवल वर्षा की रात के लिये हो और मैं भी केवल इस वर्षा की रात के लिये हूं । आओ रोवें । आओ रोवें । वर्षा के साथ तुम्हारा और मेरा नित्य सम्बन्ध क्यों हैं ? प्रकाशपूर्ण नक्षत्रों की आभा से उज्ज्वल बसत ऋतु के आकाश में तुम्हारे और मेरे लिये स्थान क्यों नहीं है ? बसन्त चन्द्रमा के लिए है, सुखी के लिए है, निश्चिन्त के लिए है, और वर्षा तुम्हारे लिए है, दुःखी के लिये है, मेरे लिए है, इस लिए मैंने रोने की इच्छा प्रकट की थी--किन्तु नहीं रोऊंगा। जिसने तुम्हारे और मेरे इस संसार को अन्धकार-मय बनाया है, रोकर उसको दोष न दूंगा । यदि उसकी यही इच्छा है कि अंधकार के साथ तुम्हारा और मेरा नित्य सम्बन्ध रहे तो आओ अंधकार को ही प्यार करें । आओ नवीन नील मेघमाला देख कर इस अनन्त असंख्य विश्व-ब्रह्माण्ड की कराल छाया का अनुभव करें--मेघ-गर्जन को सुनकर सर्वध्वंसकारी काल के अविश्रांत गर्जन का स्मरण करें । बिजली की चमक को काल का कुटिल कटाक्ष समझें । समझें कि यह संसार बिलकुल ही क्षणस्थायी है, तुम क्षणस्थायी हो और मैं भी क्षणस्थायी हूं । रोने की कोई बात नहीं है, वर्षा के लिये ही हम और तुम भेजे गये। आओ, चुपचाप जलते जलते--अनेक ज्वालाओं में जलते जलते सब सह ।

नहीं तो आओ, मरें । तुम दीपक के प्रकाश की प्रदक्षिणा करते हुए जल मरो, और मैं आकाशरूप उज्ज्वल महादीपक के चारों ओर चक्कर लगाकर जल मरूं । दीपक के प्रकाश में तुम्हारे लिए क्या मोहिनी है सो मैं नहीं जानता, किंतु आशा के प्रकाश में मेरे लिये जो मोहिनी है उसे मैं जानता हूं । इस प्रकाश में न जाने कितनी बार मैं फांदा, कितनी बार जला, किन्तु मरा

नहीं । यह मोहिनी है, सो मैं जानता हूं । बड़ी साध थी कि ज्योति को प्राप्त होकर इस संसार में प्रकाश फैलावेंगे, किन्तु हाय ! हम जुगनू हैं । हमारे इस प्रकाश से कुछ भी प्रकाशित न होगा ? जाने दो, कुछ काम नहीं है । तुम इस बकुल-कुंज किसलय के अंधकार में अपना क्षुद्र प्रकाश बुझा दो, और मैं भी जल में या स्थल में, रोग में या दुःख में इस क्षुद्र प्राण-दीपक को बुझा दूं ।

(बंकिम निबन्धावली)

३

ताजमहल

पहले दिल्ली नगर ही मुसलमान सम्राटों की राजधानी थी, किन्तु अकबर ने आगरे में महल आदि बनवा कर वहां रहना अरम्भ किया था। उसी समय से आगरा मुग़ल सम्राट की राजधानी गिनी जाने लगी। जगद्विख्यात ताजमहल आगरे में बनवाया गया। उसके बनवाने के लिए शाहजहां ने ऐसी जगह पसन्द की जहां ताजमहल बनने से वह महल में बैठे बैठे दिखलाई पड़े। ताजमहल के चारों ओर परकोटा खिंचा हुआ है। परकोटे के भीतर एक मनोहर उपवन, उपवन के पास ही ताजमहल शोभायमान है। परकोटे के भीतर की भूमि का क्षेत्रफल १२४०×६६७ हाथ है। ताजमहल के बाहर का सिहन देखने में बड़ा अच्छा मालूम देता है। वह चारों ओर चहार-दीवाली से घिरा हुआ है और उसके भीतर जाने के लिये चार दरवाजे हैं। सब से बड़ा फाटक ९३ हाथ लम्बा और ७३ हाथ चौड़ा है। इस फाटक में होकर सिहन और बाग़ को रास्ता गया है। बाग में सफेद सङ्गमरमर के हौज़ हैं। बाग़ के वृक्षों की सुन्दर पंक्ति देखने से मन मोहित हो जाता है। फिर मुमताज़महल का समाधि-मंदिर है। समाधि मंदिर एक चौखूंटे चबूतरे पर बना हुआ है। उसके ऊपर लम्बी सुराहियां हैं। चबूतरा हर ओर २०८ हाथ लम्बा और १२ हाथ ऊंचा है। चबूतरा सफ़ेद सङ्गमरमर का बना हुआ है। चबूतरे के चार कोनों पर ऊंची ऊंची चार मीनारें हैं। हर एक मीनार ७५ हाथ ऊंची है। मीनारों की बनावट बड़ी सुन्दर है। चारों

मीनारों के बीच में मुमताजमहल की कब्र है। कब्र के ऊपर एक गुम्बज है। उसकी गोलाई १२० हाथ है और वह ४० हाथ ऊंचा है। गुम्बज के चारों ओर चार छोटी-छोटी मीनारें हैं। इन में से हर एक मीनार २१ हाथ ऊंची है। गुम्बज के नीचे बीचोंबीच में दो क़ब्रें हैं। ताजमहल के बाहर की शोभा से भीतर की शोभा अधिक मनोहर है। भीतर की दीवालों में अनेक रङ्ग बिरंगे बहुमूल्य पत्थरों को जड़ कर बेल बूटे, फल आदि बनाये गये हैं। उनको देखने से मन बहुत प्रसन्न होता है। ताजमहल की अधिक प्रशंसा कहां तक की जाय। उसके बराबर संसार में दूसरी इमारत ही नहीं है। ताजमहल उपमा-रहित है। ताजमहल के भीतर दीवाल पर फारसी भाषा में जो लेख लिखा हुआ है उसका भावार्थ नीचे दिया जाता है।

'आर्जूमन्द बानू जिसकी उपाधि मुमताज़महल थी अपने प्यारे पति सम्राट शाहजहां के साथ सदा के लिए इस समाधि मंदिर में विश्राम कर रही है। बेगम १०४० हिजरी में मरी।'

कहते हैं ताजमहल के बनवाने का काम ईसा अफन्दी नाम के एक कारीगर को सौंपा गया था। उसका एक हजार रुपये मासिक वेतन था। चित्रकारी का काम शिराज नगर के अम्मार नूर खां को सौंप गया था, इसका वेतन भी एक हज़ार रुपये मासिक था। इनके अतिरिक्त तुर्किस्तान, पर्शिया, दिल्ली, पंजाब और कटक के अनेक कारीगर काम किया करते थे। जयपुर और राजपूताने से संगमरमर मंगवाया जाता था। एक गज लम्बे और एक गज चौड़े टुकड़े का मूल्य ४०) रुपये लगता था। नर्मदा के किनारे से पीले रंग का पत्थर मंगवाया जाता था। इस पत्थर की लागत भी संगमरमर जितनी ही थी। चार पहाड़ी से काला पत्थर (सङ्गमूसा) मंगवाया जाता था। एक गज़ लम्बे और एक गज़ चौड़े काले पत्थर का दाम ९०) रु० देना पड़ता था। चीन से स्फटिक पत्थर मंगाया गया था। इस पत्थर के एक गज़ लम्बे और एक गज़ चौड़े

टुकड़े का दाम ५१०) रु० देना पड़ता था। पंजाब से "हीरे" और बुग़दाद से "पुखराजमणि", तिब्बत से "नीलम", सिंहलद्वीप से "लापिस् लाज़ूलि" नाम की मणि मंगवाई जाती थी। और भी अनेक प्रकार की मणियां अनेक स्थानों से इकट्ठी की गई थीं। किन्तु वे सब बहुमूल्य मणियां और मोती जाटों ने लूटे और उन्हें बेचकर रुपये सीधे किये।

आस्तां-द-बोदो नाम का एक बहुत चतुर और विख्यात कारीगर था। यहां वाले उसको "उस्ताद" कह कर बुलाया करते थे। ताज के तैयार करने में उससे बहुत सहायता ली गयी थी। ताजमहल का गौरव बहुत दिन तक ज्यों का त्यों बना रहेगा—इसमें संदेह नहीं। शाहजहां ने अपनी कब्र के लिये ताजमहल की तरह, ठीक उसके सामने, जमुना पार एक दूसरा रौजा बनवाना चाहा था किन्तु बुढ़ापे में उसके पुत्र उसके शत्रु बन गये। इसलिये उसकी यह इच्छा पूरी न हो पाई। शाहजहां की इच्छा थी कि जमुना पर पुल बांध कर अपने और मुमताज़-महल के मक्बरे को मिला दे। पुल संगमरमर के पत्थर का बनाया जाय। यदि कहीं उसकी यह इच्छा भी पूरी हो गयी होती तो फिर क्या कहना था।

ठगी महकमे के स्लीमन साहब एक बार अपनी मेम साहिबा के साथ रौज़ा देखने गये थे। लौटते समय स्लीमन साहब ने अपनी मेम से पूछा—"बतलाओ तो तुमने ताजमहल में क्या देखा ?" इस प्रश्न का उत्तर स्लीमन साहब की पत्नी ने मुस्करा कर यह दिया था—'मैंने जो कुछ देखा है उसे कह नहीं सकती। पर हां, अगर कोई आदमी मेरी कब्र पर भी ताजमहलकी तरह दूसरी इमारत बनाने को तैयार हो तो मैं अभी मर जाऊं।"

ताजमहल का बनवाना सन् १६३० ई० में आरम्भ किया गया था और कहते हैं कि वह लगभग बीस वर्ष में बनकर तैयार हुआ था। कोई कहता है ताज की लागत १,८४,८५,१८६ रु० है और कोई कोई उसकी लागत ४,११,४८,८२३ रु० बतलाते हैं। पर असल बात यह है कि ताजमहल की असली लागत का पता चलना असम्भव है। ताजमहल के फाटक चांदी के थे। कहा जाता है कि

१७६४ ई० में जाट उन्हें उखाड़ कर ले गये और उन्हें गला डाला। शाहजहां ने कब्र को ढकने के लिये मोतियों की एक चादर रक्खी थी। इसे अमीर हुसैनअली सन् १७२० में ले गया। शाहजहां ने ताजमहल के नौकरों की तनख़्वाह और उसकी मरम्मत के लिए भी उचित प्रबन्ध कर दिया था। उसने तीस गांवों को इसके लिए अलग निकाल दिया था। उन गावों की सालाना आमदनी चार लाख रुपये थी, पर मुसलमानों की अमलदारी के साथ साथ ताज की मरम्मत के गांव भी जाते रहे। धन्य है भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन को, जिन्होंने अपने शासन-काल में भारत के प्राचीन कीर्ति-स्तम्भों के जीर्णोद्धार के लिये हजारों रुपये खर्च दिये। कर्जन साहब की कृपा से ताजमहल का काया-पलट हो गया है।

—:०:—

४

धन का व्यय

अब धन के व्यय को लीजिए । प्रत्येक मनुष्य का यह भी परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह खूब सोच समझकर और सदा अपनी आय से कम व्यय करे । जिस आदमी के पास दस बीस लाख रुपये हों वह बड़ा भारी अमीर समझा जाता है, और जिसके पास हज़ार पांच सौ हों वह ग़रीब समझा जाता है, पर वास्तव में अमीर और ग़रीब में यह अन्तर नहीं है । जिस मनुष्य का व्यय उसकी आय से कम हो वही अमीर और जिसका व्यय उसकी आय से अधिक हो वही ग़रीब है । एक अच्छे समझदार का कहना है कि जिस मनुष्य की आय १००) मासिक और व्यय ६६।।) मासिक है वही अमीर और सुखी है और जिस की आय १००) मासिक और व्यय १००।।) मासिक है वही दरिद्र और दुखी है । अब अमीर और सुखी तथा ग़रीब और दुखी होने में इसी एक रुपये महीने की करामात रह गई । आर्थिक दृष्टि से सुखी रहने का इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं है कि व्यय सदा आय से कम किया जाय ।

आय से व्यय इसलिए कम नहीं होना चाहिए कि उससे मनुष्य धनी हो जायगा, बल्कि अपनी आय का कुछ अंश कठिन समय के लिये बचा रखना परम आवश्यक है । प्रायः लोग अपनी इन्द्रिय-लोलुपता, शौक़ीनी, नशे और व्यर्थ की चीज़ें मोल लेने आदि में ही अधिक व्यय करते हैं । और ये

ही सब बातें ऐसी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य में आत्म-वशता का अभाव है। इसके अतिरिक्त अधिक व्यय करना यह भी सिद्ध करता है कि मनुष्य में दूर-दर्शिता नहीं है। क्योंकि जो मनुष्य दूरदर्शी होगा, वह अपना भविष्य सोचेगा और सदा अपनी आय का कुछ न कुछ अंश अवश्य बचावेगा। व्यय सम्बन्धी ये ही सब बातें ऐसी हैं जिनसे मनुष्य के चरित्र का भी बहुत कुछ पता चलता है। साथ ही आय की अपेक्षा व्यय अधिक करने में सब से बड़ा दोष यह है कि मनुष्य कर्जदार हो जाता है और व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं को छोड़कर शेष दशाओं में ऋणी बनना बहुत ही बुरा है। मनुष्य जहां अपनी आय से व्यय अधिक करने लगा वहां उसका काम बिना दूसरों से ऋण लिए चल ही नहीं सकता और ऋण एक ऐसा रोग है जो एक बार लगने के उपरान्त फिर जल्दी कभी छूटना जानता ही नहीं। जो मनुष्य दूसरों से व्यर्थ के व्यय के लिए ऋण लेता है वह कदापि सुखी नहीं रह सकता। ऋण लेना मानों अपने सिर आप आफत बुलाना है। एक विद्वान ने ऋण को बड़ी भारी गुलामी कहा है। एक दूसरे विद्वान् का कथन है—"दरिद्रता और अपमान आदि तो बुरा है ही, पर ऋण सब से बुरा है। कभी ऋणी मत बनो। अपव्यय और ऋण दोनों का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपव्ययी होते ही मनुष्य ऋणी होने लगता है और जब उसे ऋण का चसका लग जाता है, तब उसका अपव्यय और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार वह मानों दिन पर दिन दुखी और दरिद्र होता जाता है। ऋण लेकर अपव्यय करना मानों दूसरों का धन लुटाना है और इसकी गणना भी एक प्रकार चोरी या डाके में हो सकती है।"

अपव्यय के अनेक मार्ग हैं जिनमें इन्द्रिय-लोलुपता, नशा, शौकीनी और व्यर्थ की चीजें मोल लेना आदि प्रधान हैं। [अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने से जो जो हानियां होती हैं, उनका दिग्दर्शन मूल पुस्तक के आरम्भ में यथास्थान हो चुका है।] नशे में भी इतने अधिक दोष हैं कि उसके पक्ष

का समर्थन कभी किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। नशे से मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, बल और बुद्धि आदि का ह्रास होता है, और आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि से वे बड़ी भारी हानि करते हैं। यह समझना बड़ी भारी भूल है कि नशे से शरीर को कभी किसी प्रकार का लाभ पहुंच सकता है, उससे हमारी थकावट उतर सकती है, अथवा शरीर में फुरती आ सकती है। शरीर पर तो नशों का प्रभाव इससे बिलकुल उलटा होता है। जितने मादक द्रव्य हैं वे सब विष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। फिर भी न जाने क्यों संसार में बहुत अधिक संख्या ऐसे मनुष्यों की है जो अपनी आय का अधिकांश मादक द्रव्यों में ही व्यय करके सदा दीन, दुखी और दरिद्र बने रहते हैं और आजन्म स्वयं कष्ट भोगते तथा अपने परिवार को कष्ट देते हैं। साधारणतः एक एक आदमी सुरती, तम्बाकू, भांग, शराब, गांजे, अफीम आदि में जितना धन नष्ट करता है उतने से एक छोटे परिवार का भरण पोषण बहुत अच्छी तरह हो सकता है। जो लोग अपव्यय से बचना और आर्थिक दृष्टि से सुखी रहना चाहते हों उन्हें कभी मादक द्रव्यों का व्यवहार न करना चाहिए।

अब शौक़ीनी को लीजिये जो बराबर सभ्यता के साथ दिन पर दिन बढ़ती जाती है। संसार में बहुत अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की है जो आर्थिक दृष्टि से कभी सुखी नहीं कहे जा सकते, पर वे ही लोग सदा अनेक ऐसे अपव्यय करते हैं जिन से उनका आर्थिक कष्ट बढ़ता ही जाता है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनकी आर्थिक दशा बुरी होती है और उसी दुर्दशा को छिपाने के लिए वे लोग और भी अपव्यय करते और प्रकारान्तर से अपनी वही दुर्दशा बढ़ाने का कारण होते हैं। बहुत से युवक अपनी हैसियत को बहुत कुछ बढ़ा कर दिखलाने में ही अपना सारा पुरुषार्थ खर्च कर देते हैं। इस दुष्ट प्रवृत्ति से बहुत से नैतिक दोषों और अपराधों की भी सृष्टि होती है। बहुत से लोग केवल दूसरों की देखादेखी ही बहुत अच्छे कपड़े पहनते हैं, अपने कमरों

को खूब सजाते हैं और नाच, तमाशे और दावतों में अपनी हैसियत से ब कर खर्च करते हैं। उनकी आर्थिक अवस्था पर इस प्रवृत्ति का जो दुष्परिणाम होता है वह तो होता ही है, साथ ही समाज पर इसका और भी अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। उन की देखा देखी और भी बहुत से लोग बिगड़ते हैं और स्वयं दुखी होते और दूसरों का कष्ट बढ़ाते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस में मुख्य अपराध उन अमीरों का ही है जो सीधी सादी चाल से नहीं रहते और केवल अपनी अमीरी दिखाने के लिये बड़े ठाट बाट से बाहर निकलते हैं। उन्हीं को देखकर साधारण लोगों के मन में भी असंतोष और चोभ होता है और वे भी यथासाध्य उन्हीं के दिखलाये हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य को केवल धनी हो जाने से ही यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह दूसरों के सामने बुरा आदर्श उपस्थित करे। इसके अतिरिक्त बहुत कुछ दोष उन लोगों का भी है जो अमीरों की चाल-ढाल और रहन-सहन का अनुकरण करके अनेक प्रकार की आपत्तियां मोल लेते हैं। यदि अमीर लोग सीधी सादी चाल से रहने लगें और साधारण स्थिति के लोग अपने मन को वश में रखना सीख जायं तो इस सम्बन्ध के बहुत से दोष और दुःख सहज में ही दूर हो सकते हैं।

—:o—

५

मिलनसारी

मनुष्य को अपना स्वभाव सात्त्विक बनाने के उपरान्त दूसरी आवश्यकता उसे प्रेम-पूर्ण और मिलनसार बनाने की होती है। जिस मनुष्य का हृदय प्रेम-पूर्ण न हो उसे बहुत से अंशों में मनुष्य ही न मानना चाहिए। प्रायः सभी धर्मों में प्रेम को परम धर्म और मानव-जीवन का सार माना है। यह प्रेम मनुष्य के दुःखों को घटाने और सुखों को बढ़ाने में बड़ा भारी सहायक होता है। जिस मनुष्य में प्रेम की मात्रा जितनी ही अधिक होगी वह संसार की विपत्तियों से भी उतना ही अधिक बचा रहेगा। इसके अतिरिक्त मन को निर्मल और सात्त्विक बनाने के लिए भी प्रेम की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। [मूल पुस्तक के पिछले प्रकरण में अमेरिका के एक विकट अपराधी और एक स्त्री का उदाहरण देकर यह बात बतलाई जा चुकी है कि प्रेम-पूर्ण व्यवहार का प्रभाव मनुष्य पर कठोर दण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम होता है।] प्रेम की सहायता से मनुष्य अपना मन भी पवित्र रख सकता है और दूसरों का मन भी पवित्र और निर्मल कर सकता है। एक विद्वान् का मत है कि प्रेम से कोमलता, सुख, शान्ति, समता और सद्भाव आदि अनेक गुणों की उत्पत्ति होती है और इसी की सहायता से मनुष्य बुरी बातों का त्याग करके अच्छी बात स्वीकार करता है। प्रेम हमारे सच्चे मित्रों और सहायकों की संख्या बढ़ाकर हमारे मार्ग के समस्त कण्टकों को दूर करता है। केवल सुविचार से ही मनुष्य में कभी सद्गुणों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

हमारा-हृदय क्षेत्र है, सुविचार बीज है, प्रेम वह अमृत है जिससे क्षेत्र सींचा जाता है और सद्‌गुण उस क्षेत्र में होने वाले फल हैं। जब तक हमारा हृदय प्रेमामृत से सींचा न जायगा तब तक उसमें कभी सद्‌गुण-उत्पन्न ही न होगा। एक महात्मा का उपदेश है कि यदि हमें ईश्वर से कुछ मांगना हो तो सदा प्रेम की भिक्षा ही मांगनी चाहिए।

॥ प्रेम एक ऐसी अलौकिक शक्ति है जिससे मनुष्य को अनन्त लाभ होते हैं। प्रेम से मानसिक विकार दूर होते हैं, विचारों में कोमलता आती है, सद्‌गुणों की सृष्टि होती है, दुखों का नाश और सुखों की वृद्धि होती है और यहां तक कि मनुष्य की आयु भी बढ़ती है॥ जो मनुष्य अपने हृदय से प्रेम भाव निकाल देता है, वह मानों अपने जीवन का सर्वोत्तम अंश नष्ट कर देता है।॥ प्रेम ही मनुष्य को साहसी, धीर और सहनशील बनाता है। केवल प्रेम के बल पर ही कोमल स्त्रियों ने भीषण युद्ध करके विजय प्राप्त की है और प्रेम ही के सहारे उन्होंने विकट कष्ट सहे हैं। प्रेम ही के कारण माता अपने पुत्र के लिये अनन्त कष्ट सहती है और स्वयं सब प्रकार के दुःख भोगकर उसे सुख देती है॥ माताओं को बहुधा ऐसी अवस्था में रहना पड़ता है जिसमें यदि उन्हें प्रेम का सहारा न हो तो वे बहुत शीघ्र बीमार हो जायं। पर वह प्रेम उन्हें रोगी होने से बचाता है। उलटे शुद्ध प्रेम उन्हें बलिष्ठ और सुन्दर बनाता है। बिना प्रेम के अच्छी से अच्छी सुख-सामग्री हमें तनिक भी प्रसन्न नहीं कर सकती, पर प्रेम की सहायता से हम बिना और किसी सुख-सामग्री के भी परम सुखी हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेम से संसार की समस्त उत्तम बातों की सृष्टि होती है और समस्त बुरी बातों का नाश होता है। संसार में सुख और प्रतिष्ठापूर्वक रहने के लिए मिलनसार होने की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है और मिलनसार वही मनुष्य हो सकता है जिसका हृदय प्रेम-पूर्ण हो। संसार में हमारे बहुत से काम केवल मिलनसारी ही से निकल सकते हैं। जिस मनुष्य का स्वभाव प्रेमपूर्ण और मिलनसार होता है, उसे सब स्थानों और सब अवस्थाओं में मित्र और सहायक मिल जाते हैं।

हम नित्यप्रति देखते हैं कि मिलनसार मनुष्य के कठिन से कठिन काम बहुत ही सहज में हो जाते हैं; और जिस मनुष्य का स्वभाव मिलनसार नहीं होता, उसके साधारण काम भी बेतरह रुक जाते हैं। और नहीं तो कम से कम सांसारिक उन्नति के लिए ही मनुष्य को मिलनसार होने की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपना स्वभाव मिलनसार और प्रेम-पूर्ण बनाना चाहिए।

[मानव-जीवन]

—:o:—

६

मेघ

मैं न बरसूंगा। क्यों बरसूं? बरसने से मुझे क्या सुख है? बरसने से तुम्हें सुख है। लेकिन तुम्हारे सुख से मुझे क्या प्रयोजन? देखो, मेरे क्या यन्त्रणा नहीं है? इस दारुण बिजली की आग को मैं सदा हृदय में धारण करता हूं। मेरे हृदय में सुहामिनी सौदामिनी का उदय देखकर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आंखें ठण्डी होती हैं, मगर इस बिजली के स्पर्श से ही तुम जल जाते हो, उसी आग को मैं हृदय में रखता हूं। मेरे सिवाय किसकी मजाल है कि इस आग को हृदय में रक्खे?

देखो, वायु सदा मुझको अस्थिर किये रहता है। वायु को दिशा-विदिशा का ज्ञान नहीं है, वह सब ओर चलता है। जब मैं जल के बोझ से भारी रहता हूं, तब वायु मुझे उड़ा नहीं सकता।

तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूं। पृथ्वी अन्न से हरी भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढ़ाना। मेरा गर्जना अत्यन्त भयानक है। तुम उससे डरना नहीं। जब मैं मन्द गम्भीर शब्द से भर जाता हूं—वृक्षों के पत्तों को हिलाकर, मोरों को नचा कर, मृदु गम्भीर गर्जना करता हूं, तब इन्द्र के हृदय में पड़ी हुई कल्प-वृक्ष के फूलों की माला हिल उठती है, कृष्ण-चन्द्र के सिर पर का मोर मुकुट डोलने लगता है, पर्वतों की कन्दराओं से प्रतिध्वनि होने लगती है। और भैया, वृत्रासुर के वध के समय वज्र की सहायता से जो मैंने

गर्जन किया था उस गर्जन को सुनने की इच्छा न करना—डर मालूम होगा। बरसूंगा क्यों नहीं ? देखो नदियों का शरीर अभी तक पुष्ट नहीं हुआ। वे मेरे दिये जलराशियों को पाकर परिपूर्ण हृदय से हंसती हंसती, नाचती नाचती, कलरव करती हुई अनन्त सागर की ओर चलेंगी। यह देख कर किसे बरसने की साध न होगी ? मैं नहीं बरसूंगा। देखो यह पाजी औरत मेरे दिये पानी को नदी से कलसी में भर कर लिये जाती है और "आग लगे बरसने पर बूंद का तार नहीं टूटता" कहकर मुझको गालियां देती चली जाती है। मैं नहीं बरसूंगा। देखो घर में पानी टपकने के कारण किसान मुझको ही गालियां दे रहा है। नहीं तो वह किसान ही काहे का ? मेरा जल न मिलता तो उसकी खेती न होती—मैं उसका जीवनदाता हूं। भैया मैं न बरसूंगा। मुझे याद है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां,
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः।

कालिदास वगैरह जहां मेरी स्तुति करने वाले हैं वहां मैं क्यों न बरसूंगा ? मेरी भाषा को कविवर 'शैली' समझते थे। जब मैं कहता हूं—तब उस गम्भीर वाणी के मर्म को 'शैली' जैसा कवि हुए बिना कौन समझ सकता है ? क्यों, जानते हो ? कवि मेरे ही समान हृदय में बिजली की आग धारण करता है। प्रतिभा ही उसके अनन्त हृदयाकाश की बिजली है। मैं अत्यन्त भयंकर हूं। जब अंधकार में मैं कृष्ण कराल रूप धारण करता हूं, तब मेरी टेढ़ी भौंहों को कौन सह सकता है ! मेरे ही हृदय की यह कालाग्नि विद्युत् तब दम दम भर पर चमकने लगती है। मेरी निःश्वास से चराचर जगत् उड़ने लगता है। मेरे शब्द से ब्रह्माण्ड कांप उठता है। साथ ही मैं मनोरम भी कैसा हूं। जब पश्चिम के आकाश में, सन्ध्या के समय अरुण-वर्ण सूर्य की गोद में खेलकर मैं सुनहरी लहरों के ऊपर लहरें फैलाता हूं, तब कौन ऐसा है जो मेरी उस क्रीड़ा और रंग

को देख कर मुग्ध न हो जाता हो ? चांदनी रात को आकाश में मन्द पवन की सवारी पर चढ़ कर मनोहर मूर्ति धारण करके मैं कैसे विचरता हूं। सुनो, पृथ्वी पर के रहने वालो, मैं बहुत सुन्दर हूं, तुम मुझको सुन्दर कहना। एक बात और है। यह कह कर मैं अब बरसने जाता हूं। पृथ्वी पर बहुत गुणों से सम्पन्न एक कामिनी है। उसने मेरे मन को हर लिया है। वह पर्वतों की कन्दरा में रहती है, उसका नाम प्रतिध्वनि है। मेरी आवाज़ सुनते ही वह आकर मुझ से बातचीत करने लगती है। जान पड़ता है कि वह मुझे प्यार करती है। मैं भी उसके आलाप से मुग्ध हो रहा हूं। तुम कोई सम्बन्ध ठीक करके उसके साथ मेरा ब्याह करा दे सकते हो ?

(बंकिम-निबन्धावली)

७

हमारे जीवन का क्या उद्देश है ?

हम सभी इस संसार में अपना अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और कुछ न कुछ कार्य भी कर रहे हैं। मनुष्य मात्र किसी न किसी कार्य में लगा हुआ है, परन्तु यदि देखा जाय कि उसका वह कार्य कहां तक ठीक है तो प्रायः यही ज्ञात होगा कि मुख्यतः वह ठीक नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य-पथ से कुछ न कुछ विमुख सा है। तो क्या सभी मनुष्य अपने कर्तव्य को भूले हुए हैं। उत्तर में हमें कहना पड़ता है, हां, अधिकांश भूले हुए हैं। प्रश्न है कि हम जीते किस लिए हैं ? हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है ? इस संसार में हमारा मुख्य कर्तव्य क्या होना चाहिए ?

संसार के सभी कार्य प्रायः देश कालानुसार हुआ करते हैं। अतएव हमारे जीवन का कोई ऐसा उद्देश कदापि नहीं हो सकता जिसकी पर्ति के लिए यह संसार योग्य न हो। जिस तरह अपनी जीवन यात्रा में मछली का कोई कर्त्तव्य ऐसा नहीं हो सकता जिसका सम्बन्ध जल से न हो, अथवा जो जल में ही सम्पादित न हो सके, क्योंकि जल से बिना मछली का जीवन ही नहीं रह सकता। उसी तरह जब हम इस संसार में रहते हैं तब निश्चय ही हमारा जीवनोद्देश ऐसा ही हो सकता है जिसकी पूर्ति इस संसार में ही हो सके। दूसरी बात यह है कि मनुष्य-सृष्टि लाखों वर्षों से है और करोड़ों वर्षों तक चली जायेगी। अतएव हमारा उद्देश अवश्यमेव कोई ऐसा होना चाहिए जिसका पालन हम हर समय कर सकें। ऐसा कार्य हमारे जीवन का उद्देश नहीं हो सकता

जिसमें समय का हेर-फेर और राज्य-सम्बन्धी उलट-पुलट बाधक हो जायं और उसकी पूर्ति न होने दें। अतएव अब देखना है कि इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए हमारे जीवन का सर्वोत्तम उद्देश क्या हो सकता है।

यहां पर कहा जा सकता है कि दुनिया का प्रधान उद्देश केवल दुनियादारी हो सकता है। इसी के लिए यह संसार योग्य स्थान है। धन कमाना, मान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करना, अथवा नाना प्रकार की उपाधियों से विभूषित होना—ऐसे ही कार्य तो इस संसार में हमारे जीवनोद्देश हो सकते हैं, और जन-समुदाय को भी रातदिन हम ऐसा ही कहते अथवा करते देखते हैं। इस संसार में इसके अतिरिक्त हमारा उद्देश और हो ही क्या सकता है? परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय और विचार किया जाय तो मालूम हो जायगा कि वास्तव में ऐसा नहीं। यह सोचना बड़ी भूल है। जीवन लक्ष्य में दुनियादारी के कामों के लिए यह संसार कदापि उचित स्थान नहीं।

किसी कार्य को करने के लिए केवल वही स्थान उचित स्थान कहा जा सकता है जहां वह कार्य सरलता, सुगमता, और उत्तमता से अथवा थोड़ी बहुत कठिनाइयां झेलने से पूरा किया जा सके। जहां नाना प्रकार की दुर्गम कठिनाइयों तथा अन्य प्रकार के अनेक विघ्नों से कभी छुटकारा पाने की सम्भावना ही न हो, वह स्थान उस कार्य के लिए उचित स्थान नहीं। ठीक यही बात इस संसार में धन, मान इत्यादि के विषय में घटित होती है। धन, मान, उपाधि तथा ऐश्वर्य के प्राप्ति-सम्बन्ध में अनुल्लंघनीय कठिनाइयों, मानसिक क्लेशों और अनेक प्रकार की अन्य चिन्ताओं तथा बाधाओं से छुटकारा नहीं पा सकते। प्रथम तो इनको प्राप्त करने में ही अनेक दुस्सह कष्ट उठाने पड़ते हैं। तिस पर भी उनको सुरक्षित रखने में विशेष चिन्ता, आर्थिक हानि, स्वास्थ्य हानि, मानसिक क्लेश और कभी २ आत्मा का हनन करना पड़ता है। अतएव ये बातें हमारे जीवन का उद्देश नहीं हो सकतीं। उनका तो स्मरण करते ही हृदय कांपने लगता

है। यह बातें किसी से छिपी नहीं। हमारे प्रायः सभी धनाढ्य और उपाधिधारी सज्जन इन से परिचित हैं। उदाहरणार्थ प्रथम धन-प्राप्ति को ही लीजिए। धन एक ऐसी वस्तु है जिसका कमाना और संग्रह करना मनुष्य मात्र बहुधा अपना कर्तव्य समझा करता है। पर देखिये कि इस धन के लिए मनुष्य को कितनी कठिनाइयां, कितने क्लेश—क्या शारीरिक, क्या मानसिक और क्या आत्मिक- उठाने पड़ते हैं। फिर इन सारी विपत्तियों और कष्टों के सहन करने पर भी कितने मनुष्य ऐसे हैं जो अपनी इच्छानुसार धन कमाने में पूर्णतया सफल हुए हैं। हम तो यही कह सकते हैं कि बहुत ही कम। अनेक कष्टों से प्राप्त किये हुए धन को मनुष्य चिरकाल तक अपने पास रख भी तो नहीं सकता। मरने के बाद सब मिट्टी! जीते जी धन के कारण अनेक संकट!

जो आज राजा है वही कल रंक हो सकता है। आज जो असंख्य रुपयों से घर भरा हुआ है, कल उसी घर के आदमी दर दर भीख मांग रहे हैं। अतएव केवल धन-प्राप्ति इस संसारमें हमारे जीवन का मुख्य उद्देश कदापि नहीं। ठीक यही दशा मान तथा ऐश्वर्य की है। उन को प्राप्त करने में भी अनेकानेक मानसिक क्लेश, शारीरिक कष्ट, आत्मिक पतन, आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी हानियां उठानी पड़ती हैं। फिर यदि किसी तरह सफलता भी हुई तो उन को सुरक्षित रखने में जीवन पर्य्यन्त चिन्तित रहना पड़ता है। धनके नाश की चिन्ता लगी ही रहती है।

इसके अतिरिक्त समय के हेरफेर से अथवा देश-विप्लव आदि के कारण जो हृदय-विदारक परिवर्तन हुआ करते हैं वे सर्वथा अकथनीय हैं। इन सारी बातों पर विचार करने से यही कहना पड़ता है कि इस संसार में हमारे जीवन का उद्देश धन कमाना अथवा मान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करना कदापि नहीं हो सकता।

अच्छा! तो हमारे जीवन का उद्देश फिर हो क्या सकता है!

हम जो कुछ करते हैं उसका भला अथवा बुरा प्रभाव हमारे जीवनोद्देश पर पड़ता है, चाहे हमारा कार्य हमारे उद्देश के अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल। अब देखना है कि हमारा कौनसा कर्तव्य है जिस पर हमारे प्रत्येक कार्य का थोड़ा या बहुत, अच्छा या बुरा, प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। वही कर्तव्य हमारे जीवन का उद्देश हो सकता है। यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि ऐसा कर्तव्य केवल आत्म-सम्बन्धी ही है। आप अपने किसी भी धन, मान तथा ऐश्वर्य-सम्बन्धी कार्य में चाहे सफल हों चाहे असफल, परन्तु उस कार्य के साधनों द्वारा आपकी आत्मा थोड़ी बहुत अवश्य ही उन्नत अथवा अवनत होगी। अस्तु, जब हमारी आत्मा का उन्नत अथवा अवनत होना हमारे प्रत्येक कार्य से ही अवश्यंभावी है, तब स्पष्ट है कि केवल आत्मा को उद्धार तथा उन्नत बनाना ही हमारे जीवन का परम उद्देश हो सकता है। पर न तो समय-चक्र का ही हेर-फेर कोई विघ्न डाल सकता है और न कोई राजकीय उलट-फेर ही इसके मार्ग में कोई रुकावट पैदा कर सकता है। आप संसार के कर्तव्यों पर दृष्टि डालिये तो विशेषतः आप यही पावेंगे कि यदि कोई कर्तव्य-कार्य हार्दिक वेदनाओं से परिपूर्ण है, तो कोई मानसिक अशान्ति का अड्डा बन रहा है। यदि कहीं आर्थिक और शारीरिक हानियां चरम सीमा तक पहुंच चुकी हैं, तो कहीं आत्मा का पतन सब से नीचे की सीढ़ी को प्राप्त हो रहा है। अतएव केवल आत्मा का उद्धार तथा उन्नत बनाना ही एक ऐसा कर्तव्य है जिस में आप सच्चा सुख और पूर्ण शान्ति पावेंगे।

यहां पर यह पूछा जा सकता है कि यदि आत्मा को उन्नत बनाना ही हमारा मुख्य कर्तव्य और जीवनोद्देश है, और वह दुखदायक नहीं किन्तु अपार आनन्द-वर्धक है, तो क्यों बड़े बड़े महात्माओं को भी अनेक दुस्सह कष्ट उठाने पड़े? क्या सुकरात और ईसामसीह महात्मा पुरुष न थे? फिर क्या कारण है, कि एक को विष का प्याला पीना पड़ा और दूसरे को सूली दी गई? क्यों

उनको ऐसे घोर कष्ट मिले ? क्यों लोग उनके इतने शत्रु हो गये कि उन्होंने उनके प्राण लेकर ही पीछा छोड़ा ?

यदि कहा जाय कि लोगों ने उनके साथ घोर अन्याय किया तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यह एक प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को पैर से दबावेगा, तो वह नीचे से और कुछ नहीं तो कम से कम काटेगा अवश्य ही। इन महात्माओं की आत्मायें बहुत ही उन्नत थीं, अतएव उन्होंने अपने २ विचारानुसार अपने २ समय के लोगों के सर्वथा प्रतिकूल विचार प्रकट किये, उनको सर्व-साधारण में फैलाने का प्रयत्न किया। अथवा यह कहना चाहिये कि उन्होंने अपने समय के जन-समुदाय के हृदय-पटल पर कठोर आघात किये। इस कारण उन्होंने बदले में इनके प्राण ले लिये। पर यदि सूक्ष्मतया विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि यह मत वास्तव में ठीक नहीं। जो यह ठीक नहीं है तो फिर क्यों ऐसे महान् पुरुषों के साथ ऐसा कठोर व्यवहार किया गया ? किस कारण उनको प्राणान्तक कष्ट पहुंचाया गया ? कारण केवल यही है कि हम उन महान् पुरुषों के चरित्रों को प्रायः अपने संकुचित विचारों से जांचते हैं। उनकी आत्मायें बहुत उन्नत होती हैं और बहुधा उनके समय से भी बहुत आगे के समय के अनुकूल होती हैं। इस से भविष्यत् में होने वाली जिन बातों का अनुभव वे रात दिन किया करते हैं उनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। इसी लिए जिन कामों को हम सुख-दुख के विषय समझा करते हैं वे उनके लिये सुख-दुख के विषय ही नहीं। उन का सुख और दुःख तो कुछ और ही बातों से सम्बन्ध रखता है। छोटा बच्चा अपने दुःख-कष्ट के अतिरिक्त अपनी माता, भगिनी इत्यादि के दुःख-कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता। कुछ बड़ा होने पर उसे उनके कष्टों का कुछ २ अनुभव होने लगता है। पर पूर्ण वयस्क होने पर अपने आत्मीय जनों के ही दुःख कष्ट को नहीं, किन्तु सारे देश अथवा सारे संसार के कष्टों को वह अपना कष्ट समझता और उनका अनुभव भी

करता है। वैसे ही हमारी आत्मा धीरे धीरे उन्नत होती है। अन्त में ऐसा समय आता है जब हम कहने लगते हैं—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

महान् पुरुषों की आत्मायें उन्नतावस्था की अन्तिम सीढ़ी तक पहुंच जाती हैं। देश तथा संसार के दुःखों को वे कुछ समझते ही नहीं। वे तो अपने क्षणिक सुख-दुःख की परवाह न करके संसार के दुःख दूर करने में ऐसे लीन हो जाते हैं कि अपने प्राणों तक को सहर्ष न्यौछावर कर देते हैं। ऐसा करने से वे उस परमानन्द को प्राप्त होते हैं जो हमारे क्षणिक सुख से लाखों गुना बढ़ कर हैं और जिसका अनुभव भी हम जैसे संकुचित हृदय और छोटी आत्मा के मनुष्य नहीं कर सकते। अस्तु, जिन बातों को हम दुःख और कष्ट समझते हैं और यह कहते हैं कि उन महात्माओं का जीवन दुःखमय कटा, वे उनके लिये कदापि दुःखकारक नहीं। उन्हें दुःखजनक समझना हमारी भारी भूल है। कष्ट और दुःख तो वे हम को प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनके लिये वे कष्ट और दुःख नहीं। हलाहल विष जो हमारे लिए नाशक और महा भयंकर है, कर्तव्य-पालन के समय उनके लिए अमृत है। जैसे उनकी सुख सामग्री कुछ और ही होती है, वैसे ही उनके दुःखद विषय भी कुछ और ही हुआ करते हैं। हमारे सदृश संकुचित-हृदय मनुष्यों के से नहीं।

इतिहास में भी ऐसे महात्मा पुरुषों के चरित्र यही सिखाते हैं कि आत्मा को महान् और समुन्नत बनाना ही हमारे जीवन का परम पुनीत और सर्वोच्च उद्देश है। सच्चा सुख तथा पूर्ण शान्ति प्राप्त करने का यही एक मात्र सर्वोत्तम मार्ग है।

(श्रीयुत तोताराम गुप्त: "सरस्वती", सितम्बर १९१६)

—:o:—

८

बिलाव

मैं अपने सोने की कोठरी में चारपाई पर बैठा हुआ ऊंघ रहा था। एक छोटा सा मिट्टी का दिया टिमटिमा रहा था। दीवार पर चंचल छाया प्रेत की तरह नाच रही थी। भोजन अभी तैयार नहीं हुआ था, इसी से मैं आंखें बन्द किये सोच रहा था कि अगर मैं नैपोलियन बोनापार्ट होता तो वाटर्लू के संग्राम में विजय प्राप्त कर सकता या नहीं ? इसी समय एक छोटा सा शब्द हुआ–'म्याऊं'।

आंखें खोलकर देखा–एकाएक कुछ समझ में नहीं आया। पहले जान पड़ा, ड्यूक आफ वेलिंगटन एकाएक बिलाव होकर मुझ से दूधिया भांग मांगने आया है। मैंने पहले तो पत्थर की तरह कठिन होकर यों कहने का विचार किया कि ड्यूक महाशय, आप को पहले ही उचित पुरस्कार दिया जा चुका है, अब और पुरस्कार नहीं दिया जा सकता। इसके सिवा अधिक लोभ करना अच्छा नहीं। इतने में ड्यूक बोला–'म्याऊं'।

तब मैंने अच्छी तरह आंखें फाड़कर देखा, वेलिंगटन नहीं एक छोटा सा बिलाव है। श्यामा ग्वालिन मेरे लिए जो दूध रख गई थी, उसे आप चुपचाप चाट गये हैं। मैं उस समय वाटर्लू के मैदान में व्यूह-रचना (सेना की मोर्चेबन्दी) करने में लगा हुआ था, कुछ देखा नहीं। अब इस समय बिलावराम मलाईदार दूध की तरावट से तृप्त होकर अपने मन का आनन्द इस जगत् में प्रकट करने के लिए अत्यन्त मधुर स्वर से कह रहे हैं—'म्याऊं'। मैं शब्द-शास्त्र के प्रमाण से तो नहीं सिद्ध कर सकता, परन्तु मुझे जान पड़ा कि उसके इस 'म्याऊं' शब्द में व्यंग-

अवश्य है। शायद विलाव मन ही मन में हंसता हुआ मेरी तरफ देखकर कह
था कि "कोई जोड़े, कोई खाए।" अथवा वह मेरा इरादा जानने के लिए 'म्याउं
म्याउं' कह रहा था। जान पड़ता है वह यह कहता था कि "तुम्हारा दूध
मैं पी गया—अब क्या कहते हो?" कहूं क्या? मैं तो कुछ निश्चय नहीं
सका। दूध मेरे बाप का नहीं था, दूध था मंगला गऊ का, और उसे दुहा
श्यामा ग्वालिन ने।

बस, उस दूध पर जैसे मेरा अधिकार है वैसे ही विलाव का भी। इसी कार
मैं उस पर क्रोध नहीं कर सकता। तथापि बहुत दिनों से एक प्रथा चली आ
है कि बिल्ली दूध पी जाय तो लोग उसे मारने दौड़ते हैं। चिरकाल से चली आ
इस चाल को न मानकर मैं मनुष्य कुल में कलंकी भी नहीं बनना चाहता। क
जाने, यह विलाव अपनी मण्डली में जाकर चिदानन्द चतुर्वेदी को कायर कह
लगे, इस कारण मर्दों के योग्य काम ही करना चाहिये, यह निश्चय कर, बहु
खोजने पर पाई हुई एक टूटी लकड़ी ले, गर्व के साथ मैं उस विलाव को मा
झपटा। विलाव चिदानन्द को पहचानता था, लकड़ी देखकर वह कुछ विशे
भयभीत नहीं हुआ। केवल मेरी ओर देखकर एक जम्हाई लेकर ज़रा हट बैठा
विलाव ने फिर कहा 'म्याऊं'। उस समय भंग भगवती की कृपा से मुझे दि
कान मिल गये। तब विलाव का प्रश्न समझ कर लकड़ी रखकर मैं फिर पल
पर जाकर लेट रहा।

विलाव कह रहा था कि "मारपीट क्यों करते हो? जरा स्थिर होकर हु
पीते पीते विचार तो करो। संसार के सब रस, दूध, दही, मक्खन, मलाई, मो
भोग, मांस, मछली, आदि पदार्थ क्या तुम्हारे ही लिए हैं? क्या हमारा उन
कुछ भी अधिकार नहीं है? तुम मनुष्य हो, हम विलाव हैं, पर हम में तुम
अन्तर क्या है? तुम्हारे भूख प्यास है, हमारे भी है। तुम खाते हो, हम को
आपत्ति नहीं करते। तो फिर हमारे कुछ खा पी लेने पर तुम किस शास्त्र

अनुसार लाठी लेकर मारने दौड़ते हो ? तुम को हम लोगों से कुछ उपदेश ग्रहण करना चाहिए। मेरी समझ में विज्ञ चौपायों से सीखे बिना तुम्हारा ज्ञान बढ़ नहीं सकता। तुम्हारे विद्यालयों के देखने से जान पड़ता है कि इतने दिनों के बाद तुम मेरे इस सिद्धान्त को मानने लगे हो। देखो पलंग पर लेटने वाले आदमी, धर्म क्या है ? परोपकार ही करना धर्म है यह दूध पीने से मेरा परम उपकार हुआ है।

"तुम्हारे दूध से यह परोपकार हुआ—अतएव तुम इस परम धर्म के भागी हुए। मैंने चोरी की या जो चाहे किया, किन्तु तुम को स्मरण रहे कि मैं ही तुम्हारे इस धर्म-संचय का मूलकारण हूं। इस लिए मुझे मारने का इरादा छोड़कर तुम को मेरी बड़ाई करनी चाहिए। मैं तुम्हारे धर्म का सहायक हूं। देखो, मैं चोर हूं सही, किन्तु सोचो तो, मैं क्या शौक से चोरी करता हूं ? खाने को मिले तो कौन चोरी करेगा ? देखो, जो बड़े भारी साधु-सज्जन ईमानदार समझे जाते हैं, जो चोर के नाम से कांप उठते हैं, वे चोरों से भी बढ़कर अधार्मिक हैं। उन्हें चोरी करने की ज़रूरत नहीं, इसी से वे चोरी नहीं करते। किन्तु उनके पास आवश्यकता से अधिक धन होने पर ही वे चोरी की तरफ आंख उठा कर नहीं देखते। इसी से चोर चोरी करता है। अधर्म चोर नहीं करता। चोर जो चोरी करता है उस अधर्म का भागी धनी सूम है। चोर दोषी है, चोर को दण्ड होता है, किन्तु चोरी की जड़ जो कृपण है उसे क्यों नहीं दण्ड दिया जाता ? मैं एक दीवार से दूसरी दीवार पर "म्याऊं म्यऊ" करता फिरता हूं; तो भी कोई एक टुकड़ा रोटी मुझे नहीं देता। लोग आगे का बचा हुआ अन्न कुत्तों को दे देते हैं, नाली में फैंक देते हैं, मगर हम लोगों को बुला कर नहीं देते। तुम्हारा तो पेट भरा है, तुम हमारी भूख का कष्ट कैसे जान सकते हो ? हाय ! गरीबी से सहानुभूति दिखाने में क्या कुछ तुम्हारा गौरव घट जायगा ? इसमें सन्देह नहीं कि मुझ सरीखे दरिद्र की व्यथा में व्यथित होना लज्जा की बात है। जो लोग कभी अंधे अपाहिज

को मुट्ठी भर अन्न नहीं देते, उन्हें भी यदि किसी राजा या सेठ-साहूकार पर कोई संकट आ पड़े तो रात भर नींद नहीं आती। इस प्रकार पराई व्यथा में व्यथित होने के लिए सब राजी होंगे। लेकिन मुझ सरीखे साधारण आदमी के दुःख में दुखी—छी! कौन होगा! देखो, यदि अमुक महामहोपाध्याय या तर्कचूड़ामणि अथवा न्यायालङ्कार तुम्हारा दूध पी जाते तो क्या तुम लाठी लेकर उन्हें भी मारने दौड़ते? नहीं, उलटे हाथ जोड़ कर कहते कि "क्या और थोड़ा सा ले आऊं?"

"फिर प्रभो, मेरे लिये यह लाठी क्यों? तुम कहोगे कि वे बड़े बड़े पंडित हैं—मान्य हैं। अच्छा पंडित या मान्य होने के कारण क्या उनको हम से अधिक भूख लगती है? यह बात तो नहीं है। जिसे जरूरत नहीं उसे देने का मनुष्य जाति को रोग है। गरीब मुफलिस को कोई नहीं देता। जो खाने के लिये आग्रह करने से 'नहीं नहीं' करें उनके लिए तो जबरदस्ती भोजन का प्रबन्ध करें, और जो भूख से व्याकुल होकर बिना बुलाये ही तुम्हारा अन्न खा जाय उसे चोर कहकर दण्ड दो? छिः छिः।

"देखो, हमारी दशा देखो, हम घर-घर, डगर-डगर, दीवार-दीवार और आंगन-आंगन म्याऊं म्याऊं करते और दीन दृष्टि से चारों तरफ देखते फिरते हैं, कोई हमको रोटी का टुकड़ा नहीं फेंक देता। हां, अगर कोई बिलाव तुम्हारे यहां पलाऊ हो जाता है, तो उसकी चैन से गुजरने लगती है। यह वैसा ही हृष्ट पुष्ट हो जाता है जैसे किसी बुड्ढे के घर रहने वाला उसकी जवान स्त्री का भाई, अथवा मूर्ख मोटेमल रईस के पास रहने वाला शतरंज ताश वगैरह का खिलाड़ी मुसाहिब। उन बिलावों की दुम फूल उठती है, शरीर में रोएं भरे रहते हैं। उनके रूप की छटा देखकर बहुत से बिलाव कवि हो उठते हैं। और हमारी दशा देखो, भोजन न मिलने के कारण पेट पीठ से लग गया है, हड्डियां देख पड़ती हैं, जीभ बाहर निकल रही है, पूंछ गिरी पड़ती है। निरन्तर भूख के मारे पुकार करते हैं 'म्याऊं'? (अर्थात् मैं आऊं?) खाने को नहीं मिला—'म्याऊं'? भैया

हमारा काला चमड़ा देखकर हम से घृणा न करो। इस पृथ्वी के पदार्थों पर हमारा भी कुछ अधिकार है। खाने को दो, नहीं तो चोरी करेंगे। हमारे काले चमड़े, सूखे मुख, क्षीण और करुणापूर्ण म्याऊं म्याऊं शब्द को सुन कर क्या तुम को दुःख नहीं होता? दया नहीं आती? चोर के लिये दण्ड है, तो क्या निर्दयी निठुर के लिए दण्ड नहीं है? दरिद्र पुरुष यदि अपने लिए आहार जुटावे तो उस के लिये दण्ड है, फिर धनी आदमी कृपणता करे तो उसको दण्ड देने की व्यवस्था क्यों नहीं? तुम चिदानन्द दूरदर्शी और समझदार हो, क्योंकि भंग भवानी के अनन्य उपासक हो। तुम को भी क्या यह बतलाना पड़ेगा कि रईसों के दोष से ग़रीब चोरी करते हैं? पांच सौ ग़रीबों को वञ्चित कर उनका भोजन अपने यहां बाप के माल की तरह रख लेने का धनियों को क्या अधिकार है? और रईस या धनी ऐसा करता है तो फिर वह भोजन दरिद्रों को बांट क्यों नहीं देता? अगर वह नहीं देता तो दरिद्र लोग ज़रूर ही उस में से चुरा कर खायेंगे, क्योंकि भूखों मरने के लिये इस पृथ्वी पर कोई नहीं आया।"

बिलाव के वाक्य मुझे असह्य हो उठे। मैंने कहा—"ठहरो, ठहरो बिलाव पण्डित! तुम्हारी बातें भारी बोलशेविज़्म से भरी हैं। इनसे समाज में उलट-पलट हो जायगा। जिसकी जितनी क्षमता है वह उतना धन संचय न कर सकेगा, या चोरों के उत्पात से सुख-पूर्वक उसका उपभोग न कर सकेगा। तो फिर कोई धनसञ्चय की चेष्टा ही न करेगा, और इससे समाज की आर्थिक उन्नति में या धनवृद्धि में बाधा पड़ेगी।"

बिलाव ने कहा—"आर्थिक उन्नति या धनवृद्धि न होगी तो हमको क्या? समाज की धनवृद्धि का अर्थ हुआ धनी के धन की वृद्धि। अच्छा धनी का धन नहीं बढ़ा तो उससे दरिद्र की क्या हानि हुई?"

मैंने समझा कर कहा—"सामाजिक धनवृद्धि के सिवाय समाज की उन्नति नहीं हो सकती।"

बिलाव ने क्रोध करके कहा—"मुझे अगर खाने को न मिले तो फिर मैं तुम्हारी समाज की उन्नति लेकर क्या करूंगा ?"

बिलाव को समझाना कठिन हो गया। जो विचारक या नैयायिक होता है उसको कभी कोई भी, कुछ भी नहीं समझा सकता। यह बिलाव विचारक तो है ही, तार्किक भी बड़ा प्रबल है। इसी से उसे मेरी बात न समझने का अधिकार है। तब मैं ने क्रोध करके कहा—"हो सकता है कि समाज की उन्नति में ग़रीब का कुछ स्वार्थ न हो, लेकिन धनियों का तो उस में विशेष स्वार्थ है। अतएव चोर को दण्ड देना समाज का कर्तव्य है।"

तब फिर बिलावराम ने कहा—"आप चोर को फांसी दीजिये, इसमें भी हमको आपत्ति नहीं; किन्तु उसके साथ ही एक नियम बनाइये। अर्थात् जो विचारक चोर को सजा दे वह पहले तीन दिन तक भूखा रहे। इस पर अगर विचारक को चोरी करके खाने की इच्छा न हो, तो वह खुशी से चोर को फांसी पर चढ़वा दे। तुमने मुझे मारने के लिए लाठी तानी थी, तुम आज से तीन दिन तक लंघन करो। इन तीन दिनों में अगर तुम रसिक बाबू की रसोई में न पकड़े जाओ तो मुझे जी भर के मार लेना, मैं चूं नहीं करूंगा।"

चतुर लोगों की राय यह है कि यदि विचार में हार जाय तो गंभीर भाव में उपदेश करने लग जाना चाहिए। मैं इसी प्रथा-अनुसार कहने लगा—"देखो बिलाव, तुम्हारी ये बातें बिल्कुल नीति-विरुद्ध हैं, इनकी चर्चा करने में भी पाप है। तुम संसार की इन सब चिन्ताओं को छोड़ कर धर्म-कर्म में मन लगाओ। तुम अगर चाहो तो मैं तुम को "न्यूमैन" और "पार्कर" के ग्रन्थ दे सकता हूं, और चिदानन्द चतुर्वेदी का चिट्ठा पढ़ने से भी तुम्हारा बहुत कुछ उपकार हो सकता है। और कुछ हो या न हो, भंग-भवानी की असीम महिमा अच्छी तरह तुम्हारी समझ में आ जायगी। अब तुम अपने भवन को सिधारो। श्यामा ग्वालिन ने कल कुछ 'खोया' देने के लिए कहा है। सवेरे जलपान के समय आना, हम तुम

दोनों का सांझा रहा। आज किसी की हांडी न चाटना। अगर बहुत भूख लगे तो फिर आजाना, थोड़ी भांग की गोली दे दूंगा।"

बिलाव ने कहा—"भांग की मुझे ज़रूरत नहीं। रही हांडी पर हाथ सफा करने की बात, सो इसका विचार भूख लगने पर उसी के अनुसार किया जायगा।" बिलाव विदा हो गया। उस समय यह सोच कर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ कि आज मैं एक पतित आत्मा को अंधकार से प्रकाश में ले आया।

(चौबे का चिट्ठा)

—:o:—

९

महाबली कर्ण

महाभारत के सभी पात्रों के चरित्र शिक्षाप्रद हैं। वे ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं। महाबली कर्ण भी उस दारुण युद्ध के सञ्चालकों में से एक प्रधान पुरुष थे। दुर्योधन के प्रगाढ़ विश्वासपात्र होने के अतिरिक्त उनकी अन्तरङ्ग सभा के प्रधान सभासद् थे। इस अन्तरङ्ग सभा के अतिरिक्त इनके भेद को और कोई न जानता था। यह जब साथ बैठते थे तब पांडवों का कुछ न कुछ अनिष्ट जरूर सोचते थे। जब २ छली शकुनि पांडवों के अहित की कोई बात दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए सोचता, कर्ण केवल उसका समर्थन ही नहीं करता था, किन्तु यह भी कहता था कि "इसे तुरन्त कार्यरूप में परिणत करो। जो परिणाम होगा उसे मैं भुगत लूंगा। पांडवों से न डरो। मेरे सामने वे तृण के समान हैं।" दुर्योधन ऐसी ऐसी बातों के फेर में पड़कर अपने को सुरक्षित समझता था। इसी कारण अन्तकाल तक सन्धि के नाम के "सं" अक्षर से भी वह नाक भौं चढ़ाता था।

क्या कर्ण सचमुच ही वीर थे? कवि कहता है कि अवश्य वीर थे। वह अर्जुन के बल-विक्रम के प्रभाव को लोगों पर प्रकट करने के लिए कर्ण को अर्जुन से भी बड़ा बनाता है। क्योंकि यदि वह कर्ण, भीष्म, द्रोण आदि महारथियों से न लड़ाकर अर्जुन को अन्य सामान्य योद्धाओं से लड़ाता तो अर्जुन की उस में कुछ भी कीर्ति न थी। कवि ने तो यह दिखलाया है कि अर्जुन ने अपने से भी अधिक बली कर्ण को मारा, इसी से वे योद्धाओं में श्रेष्ठ माने गये।

स्वयं श्रीकृष्ण ने कर्ण की प्रशंसा इस प्रकार की है—"जो कदाचित् यह कर्ण कवच-कुण्डलों समेत होता तो अकेला ही देवताओं समेत तीनों लोकों को जीत लेता। इन्द्र, कुबेर, बलि और यमराज भी युद्ध में कर्ण के सम्मुख होने का साहस न कर सकते। तुम गाण्डीव को और मैं सुदर्शन को लेकर भी कवच-कुण्डलों से युक्त नरोत्तम कर्ण को जीतने के लिए समर्थ नहीं थे। कवच-कुण्डल और इन्द्र की शक्ति से हीन भी कर्ण सिवा तुम्हारे और किसी से भी मारा नहीं जा सकता।" बाणों की शय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह से मिलने को जब कर्ण गये तब उन्हों ने भी कहा था—"मनुष्य मात्र में तेरे समान पराक्रमी कोई नहीं है। मैंने केवल कुल के कलङ्क के द्वेष से बचने के लिये तुझ से कठोर वचन कहे। हस्त-साधन और अस्त्रबल में तू श्रीकृष्ण और अर्जुन के समान है।"

इसी महाबली कर्ण के डर से युधिष्ठिर को नींद नहीं आती थी। शत्रु के बल का यथार्थ परिचय शत्रु ही को हो सकता है। युधिष्ठिर ने तो उसी दिन से कर्ण के महाबल का परिचय पा लिया था जिस दिन रङ्गभूमि में कर्ण ने अर्जुन से भी बढ़कर शस्त्रविद्या का परिचय दिया था। कर्ण लम्बे चौड़े, खूब बलिष्ठ शरीर वाले थे। विद्या भी कर्ण ने खूब पढ़ी थी। श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि कर्ण ब्रह्मण्य, सत्यवादी, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शत्रु पर दया करने वाले थे।

इससे कर्ण के गुणवान होने ही का पता नहीं लगता, किन्तु यह भी मालूम पड़ता है कि उस समय उच्च शिक्षा का खूब प्रचार था। यहां तक कि एक सामान्य रथ हांकने वाले का लड़का भी सब प्रकार की विद्याओं से संम्पन्न होकर राजदरबार में उच्च पद को प्राप्त कर सकता था।

एक गुण कर्ण में सब से उत्तम था। वे बेहद निडर थे। घबड़ाने का नाम तो वे जानते ही नहीं थे। कई बार युद्धस्थल में पराजित होने पर भी भयभीत नहीं हुए। उनके असामान्य साहस का परिचय इससे अधिक और क्या हो सकता है कि एक विषैले कीड़े के काटने से मरणान्त पीड़ा होने पर भी उन्होंने अपने गुरु

परशुराम जी के जागने के भय से (जो कि उनकी जङ्घा पर सिर रखकर सोये हुए थे) 'सी' तक नहीं की। परन्तु इस अमानुषिक साहस का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। प्रसन्न होने के बदले गुरु ने उलटा इन्हें शाप दिया। ब्राह्मण का रूप धर कर छल करने के कारण कर्ण को गुरु ने शायद पूर्ण विद्या न दी हो पर इतना उन्होंने अवश्य कहा था कि युद्ध में तेरे सदृश क्षत्री-धर्म का पालन और कोई भी न कर सकेगा।

कर्ण की बहादुरी के कामों के वर्णन में महाभारत में बहुत स्याही खर्च हुई है। उन सब बातों का वर्णन यहां पर नहीं हो सकता। यहां सिर्फ इतना ही कह देना काफी होगा कि जब जब अवसर पड़ा है, तब तब कर्ण ने अपना कर्तव्य करने से पैर पीछे न हटाया। मृत्यु-काल उपस्थित होने पर भी निडर होकर रथ के पहिये को ज़मीन से निकालने के लिए रथ से कूद पड़े। कर्ण के हृदय में शूरत्व और दयालुत्व दोनों का समावेश था। ऐसे मनुष्य शूरता के बड़े बड़े काम कर सकते हैं, पर न्याय दृष्टि से शासक सेनापति या नायक के काम को अच्छी तरह नहीं कर सकते। ऐसे पुरुष क्षमा भी बहुत कर सकते हैं। कभी करोड़ों रुपये व्यर्थ फूंक देंगे, कभी कौड़ी के लिए लड़ बैठेंगे। इनके काम मर्यादा-रहित होते हैं। कर्ण छोटी मोटी बातों पर कभी विचार ही नहीं करते थे। इधर अर्जुन शस्त्र-विद्या में कुछ न कुछ नित्य ही सीखते रहते थे। उधर कर्ण अपने को युद्ध विद्या में निपुण समझ कर दुर्योधन के साथ अपना समय कुमन्त्रणा में नष्ट करते थे। तथापि वे कभी असत्य नहीं बोले। कभी अपनी प्रतिज्ञा से कितना ही आग्रह करने पर भी डिगे तक नहीं। कर्ण का सच्चा आभ्यन्तरिक भाव कवि ने उस समय दिखाया है जब श्रीकृष्ण शान्ति-स्थापना कार्य से निराश होकर हस्तिनापुरी से विराट नगरी को लौट रहे थे। उस समय उन्होंने कर्ण को अपने रथ पर बैठाकर पाण्डवों की ओर होने की सलाह दी। साम, दाम, दण्ड, भेद भी दिखाये। परन्तु उत्तर में कर्ण ने कहा—"केशव! इस में कुछ सन्देह नहीं कि

आप ने सौहार्द से, प्रेम से, मेरे कल्याण की कामना से मुझे ऐसी सलाह दी है। यद्यपि शास्त्रानुसार मैं पांडु का पुत्र हूं, तथापि कुन्ती ने मेरे साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया। उन्होंने जन्मते ही मुझे गंगा में फेंक दिया। दैवयोग से सूतवंश के राजा अधिरथ ने मुझे पाया और मेरा पालन पोषण किया। मेरा विवाह भी उन्हीं ने किया। अब मैं अपने पिता माता को नहीं छोड़ सकता। न मैं उन्हें हर्ष से छोड़ सकता हूं, न भय से। न इस सारी पृथ्वी के राज्य के लिए उन्हें छोड़ सकता हूं, न सोने की राशियों के लिए। फिर दुर्योधन की कृपा से मैंने तेरह वर्ष की अवस्था से आज तक अकण्टक राज भोगा है। उस ने पाण्डवों से विग्रह मेरे ही भरोसे किया है क्योंकि वह जानता है कि अर्जुन के साथ सिवा मेरे और कोई नहीं लड़ सकता। इस में अब मैं दुर्योधन के साथ बंधुवा बनने और आगतभय का सामना करने के लिए उद्यत हूं। युधिष्ठिर का पक्ष अब मैं नहीं ले सकता। अर्जुन ने भी मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है और मैंने अर्जुन को मारने की। यदि हम दोनों इस प्रतिज्ञा को तोड़ेंगे तो हम दोनों का हास्य संसार में होगा। आप से मेरी एक प्रार्थना है, आप की ओर से इन गुप्त बातों की खबर युधिष्ठिर को न होने पावे, क्योंकि धर्मात्मा युधिष्ठिर जब मुझे अपना ज्येष्ठ भ्राता जानेंगे, तब वे अपना राज्य मुझे दे देंगे और मुझ को वह दुर्योधन को दे देना पड़ेगा। पर यह महा अनुचित कार्य होगा। क्योंकि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही राजा होने योग्य हैं।"

यही बात कर्ण ने बड़ी धीरता और शांति के साथ कुन्ती से भी कही थी। कुन्ती ने कर्ण को फुसलाकर अपने पक्ष में लाने का बहुत ही प्रयत्न किया। यह भी कर्ण से कहा कि मैं तेरी सच्ची माता हूं। परन्तु कर्ण ने एक भी न मानी। कुन्ती ने कर्ण के साथ माता का सा व्यवहार नहीं किया था, उस ने अपना अनुचित कर्म-फल छिपाने के लिए कर्ण को नदी में फेंक दिया था। उससे कर्ण के सद्वंश विषयक माहात्म्य का नाश हो गया और उन्हें अनेक बार शरमिन्दा होना पड़ा। परन्तु यह बात कर्ण की उदारता का परिचय देती है कि उन्होंने अपनी माता के साथ असभ्यता का व्यवहार नहीं किया। उलटा कुन्ती

की चित्त-शान्ति के लिये यह कहा—"अर्जुन के या मेरे मारे जाने पर तेरे फिर भी पांच पुत्र बने रहेंगे"। आज कल के लोग ऐसी माता को कुंए में धकेल देंगे। परन्तु कर्ण के इस सद्व्यवहार से मालूम होता है कि कर्ण माता को ही नहीं, स्त्री-जाति मात्र को किस आदर की दृष्टि से देखता था, और दुर्योधन से दूर रहने पर किस प्रकार सभ्याचरण था।

कर्ण दान में भी बड़े विख्यात थे। इस विषय में कर्ण का आसन राजा बलि और हरिश्चन्द्र के आसन से कुछ नीचा नहीं है। कर्ण सूर्यदेव के उपासक थे। उपासना के उपरान्त रोज याचकों को इच्छा-दान देते थे।। वे ऐसे दानी थे कि अपने प्यारे प्राणों के रक्षक कवच-कुण्डलों तक को छली इन्द्र को देने में सङ्कोच नहीं किया। हमारे यहां के धर्माचार्य कर्ण के इस दान की चाहे जितनी प्रशंसा करें; परन्तु पाश्चात्य अर्थ-शास्त्री तथा राजनैतिक ऐसे दान को अच्छा नहीं समझेंगे। ऐसे ही मर्यादा-रहित दानों ने इस कांचनमय भारत को दरिद्र बना दिया।

जब हम कर्ण के जीवन का दूसरा पहलू देखते हैं, तब मन सहसा अधीर हो उठता है। हाय! जिस महात्मा के बल, विक्रम और बुद्धि को देख कर महाक्रोधी परशुराम भी प्रसन्न हो गये थे, दैवयोग से वही दुर्योधन का साथी हो गया। इसका भी एक प्रबल कारण है। यद्यपि कर्ण का पालन पोषण सूत वंश में हुआ था तथापि उसका जन्म उच्चवंश में हुआ था। उनकी रगों में क्षत्रिय-रक्त बहता था। उन में क्षत्रियों के सभी गुण थे। कर्ण का आत्मा महान् था। इससे कर्ण भी उच्च-सैनिक-शिक्षा पाने के प्रबलाकांक्षी हुए। अपने उद्योग से उन्होंने परशुराम जी को प्रसन्न करके उनसे विद्या सीखी। राजकुमारों की परीक्षा के लिए द्रोणाचार्य द्वारा बनाई हुई रङ्गभूमि में कर्ण भी गये। राजकुमारों ने अपना रण-कौशल दिखाया। इस पर कर्ण से न रहा गया। कर्ण ने भी अपनी शस्त्र-विद्या की परीक्षा दी। देख कर सब लोगों ने कर्ण के गुणों की प्रशंसा की। पाण्डव राजकुमारों को यह बात बहुत ही बुरी लगी। वे कहने लगे कि एक नीच

सूत-पुत्र राजकुमारों की समता नहीं कर सकता। कृपाचर्य ने यह बात भरी सभा में कही। उस पर उदार-हृदय कर्ण यद्यपि लज्जित हो गया, तथापि धीरज पूर्वक उसने कहा—गुण से वंश का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्षत्रियों में बल देखा जाता है। दुर्योधन, जो जन्म ही से पाण्डवों का द्वेषी था, कर्ण के पराक्रम से बड़ा प्रसन्न हुआ। इसने कर्ण को तुरन्त लार्ड की पदवी से भूषित कर अपने पक्ष में कर लिया। पाण्डवों तथा अन्य कौरवों से तिरस्कृत हुआ कर्ण खुशी से दुर्योधन के दल में जा मिला। दुर्योधन ने उसको यहां तक अपनाया कि उस समय से अन्तकाल तक कर्ण का मुख्य धर्म दुर्योधन को प्रसन्न करना हो गया। इसलिये "द्रौपदी-वस्त्र हरण", "द्वैतवन की घोष-यात्रा", "विराट-गो-हरण" आदि नीच कर्मों में कर्ण ने दुर्योधन का साथ दिया, पर फिर भी कर्ण ने अपनी उदारता नहीं छोड़ी। वह क्षमा के उत्तम गुणों को जानता था। दुर्योधन का हठ कर्ण में नहीं था। जितने अनर्थ कौरव-सभा में हुए थे वे सब कर्ण के दिमाग़ से नहीं निकले थे। वे नीच दुर्योधन और छली शकुनि के मनोविकार थे। कर्ण की सब से बड़ी दुर्बलता यह थी कि उन्होंने बिना सोचे विचारे इन सब अनर्थों में साथ दिया। दुर्योधन में कुछ ऐसी शक्ति थी कि जिस से चाहता था, वह अपना काम करा लेता था। वह बनना खूब जानता था, कभी वह रो देता और कभी वह हंस देता था।। जैसा हो वैसे उसे अपने कार्य-साधन ही से प्रयोजन था। वह इसमें इतना दक्ष था कि विदुर की उदार नीति, भीष्म के सन्धि व्याख्यान, माता पिता के हितैषी वचन, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के सदुपदेश, उसके हठ के सामने सब व्यर्थ हो गये। उलटा इन लोगों को दुर्योधन ही का कहना करना पड़ा। फिर भला कर्ण तो उसके परम मित्र ही थे। यद्यपि कर्ण को विदित था कि पाण्डवों की जीत होगी और उन्होंने पांडवों को कटु वचन कहने के कारण पश्चात्ताप भी किया था, तथापि दुर्योधन के प्रेम-पाश में फंसने और क्षत्रियत्व के मद से उत्तेजित होने के कारण उन्हें युद्ध करना ही पड़ा। दुर्योधन का कहना कर्ण को यहां तक मान्य था कि उन्हें बिना आगा पीछा सोचे उस अमोघ शक्ति को जो बड़े

यत्न से अर्जुन को मारने के लिये रक्खी थी, घटोत्कच के ऊपर छोड़ना पड़ा।

राजनीति का भी कर्ण को अच्छा ज्ञान था। यह उनकी उस समय की उक्ति से सूचित होता है जब दुर्योधन गन्धर्वों से हार कर और पाण्डवों के द्वारा मुक्त किये जाकर लज्जावश आत्म-घात करने पर उतारू हुआ था। कर्ण कहते हैं—"हे दुर्योधन! तुम राजा हो, पांडव तुम्हारी प्रजा हैं, प्रजा का धर्म है कि अपने राजा को संकट से छुड़ाये। इसलिये यदि पांवडों ने गन्धर्वों के हाथ से तुम्हें छुड़ाया तो इसमें अनुचित क्या हुआ? दुःख की कौन बात है?" इन वचनों ने जादू जैसा असर किया। दुर्योधन सारे दुःख भूल कर उठ खड़ा हुआ? भीष्म पितामह के मरने पर स्वयं सेनापति बनने की प्रबल आकांक्षा करके भी द्रोणाचार्य को सेनापति बनाने का परामर्श देना भी कर्ण के आत्म-त्याग को सूचित करता है।

वीर बालक अभिमन्यु की मृत्यु के विषय में यदि यह पूछा जाय कि सब से अधिक पाप-कर्म किसने किया तो निष्पक्ष न्यायाधीश यही कहेंगे कि द्रोणाचार्य ने, क्योंकि वे सेनापति थे, और उन्होंने यह पापपूर्ण युक्ति कर्ण को बतलाई थी। तो क्या और लोग पाप के भागी नहीं? अवश्य हैं। उन्होंने तत्काल ही इसका दण्ड भी तो पाया। परन्तु वह समय वैसा ही था। घोर आपत्ति आने पर मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। फिर कर्ण महाबली क्षत्रिय थे। वे अपमान को नहीं सह सकते थे। पांडवों तथा भीष्म-द्रोण आदि ने कर्ण के साथ छोटेपन ही से बड़ा असभ्य व्यवहार किया था। पहले तो माता ही ने उसके साथ अनर्थ किया फिर कर्ण ने आत्म-बल से अपने को ऊंचा उठाने की चेष्टा की तो लोगों ने 'नीच-नीच' 'अनधिकारी-अनधिकारी' इत्यादि कह कर उसको समाज से अलग कर उसके क्षत्रियत्व को नष्ट करना चाहा। आजकल जो होनहार युवक विदेश जाकर और विद्या सम्पन्न होकर स्वदेश को लौटते हैं, या यहीं जो आत्म-उद्योग से अपनी उन्नति करके समाज के हित की ओर झुकते हैं उनके साथ हम भी आजकल बड़ा असभ्य

व्यवहार करते हैं। हर प्रकार से उनका अनिष्ट सोचकर उन की चित्त-शान्ति को दूर करने की चेष्टा करते हैं। ठीक ऐसा ही अन्याय कर्ण के साथ भी हुआ। उसके सामरिक नैपुण्य की प्रशंसा करने के बदले कुरु लोगों ने उसको 'सूत-पुत्र' 'अर्धरथी', 'वृथाभिमानी' कह कर चिढ़ाया। यह समय ऐसा था कि क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, जरा से अपमान के कारण शाप देने या लड़ाई करने को उतारू हो जाते थे। क्षमा मांगने पर भी कठिनता से मिलती थी। अपमान सहने में कर्ण कहां तक असमर्थ था, यह उसकी उस भूल से, उस प्रतिज्ञा से साबित होता है जो उसने भीष्म पितामह के कटु वचन कहने पर की थी कि पितामह के जीते जी मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह भूल दुर्योधन के लिये बड़ी घातक थी।

हमारी अल्पबुद्धि में तो यह आता है कि कर्ण को पांडवों ने अपने असभ्य व्यवहार से दुर्योधन के पक्ष में जाने को विवश किया। इसी तरह रावण के अनुचित बर्ताव से विभीषण को भ्रातृ-द्रोही होना पड़ा। किसी पर्वत से गिरती हुई पानी की धारा को रोकना जैसे बड़ा कठिन और भयानक काम है, वैसे ही किसी होनहार महात्मा को छोटेपन से दबाने की चेष्टा भी अनर्थकारक है। मनुष्य प्रकृति इस पर चिढ़ती है। यही कर्ण के चरित्र से सब से बड़ी शिक्षा हमें मिलती है।

किसी महात्मा को अकारण कुपित करने का परिणाम होता है कि दो पक्ष हो जाते हैं। हर एक पक्ष दूसरे का अनिष्ट चाहता है। महाभारत में भी यही हुआ। यद्यपि पांडवों की जीत हुई तथापि उनको इस जीत का दंड ब्याज सहित देना पड़ा। जो कुछ उनको प्यारा था वह अभिमन्यु द्रौपदी-कुमार सब के सब द्वेषाग्नि में स्वाहा हो गये और यह हुआ कि जब कौरव लोग शान्ति-पूर्वक स्वर्ग में विश्राम करते थे, पांडव लोग अपने प्रेमी जनों के वियोग में रोते थे। किसी तरह उनका चित्त शान्त नहीं हुआ। अन्त में विरक्त होकर उन्हें जंगल में जाना पड़ा। नहीं कह सकते कि इस युद्ध के कारण किसे अधिक-लाभ हुआ।

खेद की बात है कि कर्ण ऐसा उदाराशय और वीर कुछ माता के दोष से और कुछ समाज के कुव्यवहार से ऊब कर दुर्योधन की दुष्ट संगति में पड़ गया। इस से वह कर्म-भ्रष्ट हुआ।

कर्ण ही की तरह अनेक होनहार युवक माता पिता के दोष और समाज के कठोर तिरस्कार से पीड़ित होकर बड़े बड़े अनर्थ कर बैठते हैं।

—पं० बदरीदत्त पाण्डे

—:o—

१०

बातचीत

बातचीत का भी एक ढंग होता है और वह भी सब कोई नहीं जानता। अच्छी तरह बात चीत करने पर सब कोई प्रसन्न हो जाता है, और बातचीत करने में चतुर पुरुष का सर्वत्र आदर और मान होता है।

जिसको बातचीत करना आता है वह चार आदमियो में बैठकर सब का मन मोह लेता है। सज्जनों के साथ वार्तालाप करने से अनेक प्रकार की शिक्षायें मिलती हैं। बहुत सी बातें पुस्तकों के पढ़ने से नहीं आतीं, उनके सीखने के लिए सत्संग करना पड़ता है और भले आदमियों के साथ बातचीत करनी पड़ती हैं। बहुत सी बातें मनुष्य सत्संग से ही सीख सकता है। शहर के रहने वाले अनपढ़ मनुष्य भी गांव के पढ़े लिखे मनुष्यों से कहीं अधिक चतुर और प्रवीण होते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि शहर वालों को ऐसी ऐसी बातें सुनने में आती हैं जो गांव वालों के कानों तक नहीं पहुंचतीं। विद्यार्थियों के लिये बातचीत करने की सब से अधिक आवश्यकता है। पुस्तकों के द्वारा वे विद्या की वृद्धि कर सकते हैं और सज्जनों के साथ बातचीत करके सांसारिक बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

परस्पर बातचीत करके अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए ही परमेश्वर ने जीभ दी है। परन्तु जीभ का बुरा उपयोग न करना चाहिए। बुरा

उपयोग करने में अनेक हानियां हैं और अच्छा उपयोग करने में अनेक लाभ हैं।

तुच्छ और व्यर्थ बातों में अपना और दूसरों का समय नष्ट न करना चाहिए। व्यर्थ और तुच्छ बातों को सुनकर लोगों का जी उकता जाता है और वहां से उठ कर वे अपने घर चले जाते हैं। मनुष्य को सदा अच्छे ही विषयों पर बातचीत करनी चाहिये, बुरे विषयों पर बातें करने वाले के पास बैठना भले मनुष्यों को अच्छा नहीं लगता। वे उसे ओछा समझने लगते हैं और उसका मान कम हो जाता है। चार मनुष्यों में अनुचित बातें कभी न करनी चाहियें। परन्तु बुद्धिमान को इस प्रकार की बातें सुनकर सभा को छोड़ कर उठ भी न जाना चाहिए। समझदार को चाहिये कि चुपचाप बैठकर किसी की हलकी बातों को वह न सुना करे। उसे अवसर देखते रहना चाहिये और उसके आने पर किसी अच्छे विषय पर बातचीत करना आरम्भ कर देना चाहिये। जहां चार मनुष्य बैठे हैं वहां उनमें एक आध मनुष्य अधिक बुद्धिमान् होता है। उसी को ढूंढ निकालना चाहिये, उसी से बातचीत करना शुरू कर देना चाहिए, और अपनी अच्छी बातों से सब को लाभ पहुंचाना चाहिये।

सभा में बैठ कर, जो मनुष्य वहां नहीं है, उसके प्रतिकूल तुम को कोई बात न कहनी चाहिये। तुम इस बात का पूरा विश्वास रक्खो कि जो कुछ तुम कहोगे वह उस मनुष्य के कानों तक अवश्य पहुंचेगा, पहुंचने से वह तुम्हारा शत्रु हो जायगा और कदाचित् वह तुम से बदला लेने का भी यत्न करेगा। जिसकी तुम बुराई करोगे उसकी ओर से उन सब का मन हट जायगा जो वहां उस समय बैठे होंगे। यदि उस समय उसके विषय में तुम दस बातें अच्छी कहोगे और एक बुरी कहोगे तो वे दस बातें लोग भूल जायेंगे परन्तु एक बुरी बात न भूलेंगे। जिसकी तुम हंसी या बुराई करोगे वह भी अवसर पाकर तुम्हारी हंसी और बुराई करेगा। फिर तुम उसे रोक न सकोगे। एक मनुष्य का स्वभाव था कि वह जहां

कहीं मनुष्यों में बैठता वहां से सब से पीछे उठता था। उसके एक मित्र ने एक दिन उससे इसका कारण पूछा। उसने उत्तर में कहा—"ज्यों ही कोई मनुष्य दो चार आदमियों में से उठकर जाता है, त्यों ही लोग उसके विषय में बुरा भला कहने लगते हैं। मैं इसी लिए पहले नहीं उठता, सब से पीछे उठकर जाता हूं, जिससे लोगों को मेरी बुराई भलाई करने का अवसर न मिले।" यह बात बहुत सत्य है। मनुष्य का स्वभाव प्रायः ऐसा ही होता है। परन्तु ऐसा करना अच्छा नहीं। पीठ पीछे कभी किसी की बुराई न करनी चाहिए।

जिस से तुम्हारा परिचय हो, या जो तुम्हारा मित्र हो उसकी झूठी खुशामद कभी मत करो। खुशामद से हमारा अभिप्राय उस प्रशंसा से है जिसके वह योग्य न हो। इस प्रकार की झूठी प्रशंसा करना मानों यह जतलाना है कि वे भी फिर तुम्हारी ऐसी ही प्रशंसा करें। जब तुम उनकी झूठी प्रशंसा करोगे, तो उन्हें भी तुम्हारा बदला चुकाना ही पड़ेगा। वे भी फिर तुम्हारी झूठी प्रशंसा करेंगे क्योंकि प्रशंसा करने का ऋण प्रशंसा से ही चुकता होगा, अन्यथा नहीं। हां, किसी की सच्ची प्रशंसा करने में दोष नहीं; परन्तु गुणों का वर्णन करने में भी लोग प्रायः नमक मिर्च लगाए बिना नहीं रहते। किसी को कोई अच्छा काम करते देखकर उसकी प्रशंसा करने में कोई हानि नहीं। ऐसी प्रशंसा के प्रतिकूल हम कुछ नहीं कहते। दस पांच मनुष्यों में बैठकर केवल अपना ही दुखड़ा न ले बैठना चाहिए। दूसरे क्या कहते हैं, उसे सुनना चाहिए और जो विषय उस समय उठाया गया हो, उसी विषय पर बातचीत करनी चाहिए। यदि यह विषय बुरा हो या अधिक उपयोगी न हो तो युक्ति के साथ उस विषय को त्याग कर किसी और विषय की चर्चा की ओर लोगों का ध्यान खींचना चाहिए और उसी विषय पर बातचीत करनी चाहिए। जो विषय तुम को अधिक अच्छा लगे, उसी पर प्रतिदिन बातचीत न करो।। ऐसा न करने से लोग तुम्हारी बात सुनते सुनते ऊब जायंगे और तुम्हारी बात वे कभी ध्यान से न सुनेंगे। बातचीत करते समय यदि तुम को कोई कहावत याद आ जाय तो तुम

उसे भी सुना दो, परन्तु फेरफार कर कहावत को कहने के विचार से ही कोई बात न उठाओ। तुम कभी कोई ऐसी बात अपने मुंह से न निकालो जिससे यह सूचित हो कि तुम औरों से अपने को अधिक प्रतिष्ठित समझते हो। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो अपने को औरों से अधिक बुद्धिमान् और प्रतिष्ठित न समझता हो। नम्रता और सभ्यता से ही सदा बातचीत करनी चाहिए। ईर्षा, छल, कपट और अभिमान इत्यादि का कोई चिह्न बातों में न दिखाई देना चाहिये।

जिस तरह मनुष्य को बुरी पुस्तकें कभी हाथ में न लेकर सदा अच्छी अच्छी किताबें ही पढ़नी चाहियें, इसी तरह सदा सब को अच्छे ही मनुष्यों का संग करना चाहिये, बुरों का नहीं। अपने से बड़ों और अधिक विद्वानों के पास बैठ कर तुम उनकी बातें खूब ध्यान से सुनो और उनसे उपदेश ग्रहण करो। यदि छोटों से मिलो तो तुम उनको उपदेश देकर लाभ पहुंचाओ। सभा में चुपचाप न बैठना चाहिए। चुप बैठना अच्छा नहीं लगता। कुछ कहो और कहकर दूसरों को प्रसन्न करो। जो जो सभा में लाभदायक बातें तुम सुनो उन्हें लिखते रहो। बिना समझे बूझे दूसरों के कथन में दोष न निकालो; क्योंकि जिस बात को तुम दोष समझते हो, सम्भव है लोग उसे दोष न समझते हों। झगड़ालू मनुष्य से कभी बातचीत न करो। दस आदमियों में बैठकर क्रोध न करो। यदि उस समय तुम को कोई अनुचित भी कह बैठे तो तुम उसकी बात को टाल दो। यदि वाद-विवाद करना ही पड़े तो बड़ी शान्ति से बातचीत करो; कभी आपे से बाहर होकर न बोलो। तुम्हारे साथी यदि किसी की निन्दा करने लगें, किसी प्रकार की असभ्यता का बर्ताव करें और किसी को बुरा भला कहने लगें, तो तुम उन्हें धीरे से समझा दो। यदि वे न मानें तो तुम मौन धारण कर लो। यदि चुपचाप बैठ कर तुम उनकी बातें न सुन सको तो वहां से अलग उठ जाओ।

११

शिक्षा का अन्तिम उद्देश

हम जितने कार्य करते हैं, उन सब में कुछ न कुछ उद्देश रहता है। उद्देशहीन कार्य से कोई लाभ नहीं होता। उसके करने में जो परिश्रम पड़ता है वह वृथा जाता है। प्रत्येक कार्य का उद्देश हमारी आंख के सामने सदा न भी रहे, परन्तु कम से कम जीवन की प्रणाली बनाते समय किसी उद्देश का आंख के सामने रखना ज़रूरी है। अगर उद्देश नहीं रहेगा तो कार्य असंबद्ध होंगे। वे कई वार परस्पर-विरोधी भी हो जायेंगे। इस अवस्था में एक बुद्धिहीन प्राणी के जीवन के समान हमारा जीवन हो जायगा। इसलिए हमारे सब कार्यों में कुछ न कुछ उद्देश रहता ही है—फिर वह उद्देश ऊंचा हो या नीचा, विचार-पूर्वक निश्चित किया गया हो या अविचार से। वह मिनट दो मिनट में सिद्ध होने वाला हो या सैंकड़ों वर्षों के बाद भी सिद्ध हो। चाहे हमारी आंखों के सामने वह रात दिन गुज़रता हो या बड़े विचार के बाद उसका ज्ञान हमें हो सके। अगर इतना मान लिया जाय कि हमारे प्रत्येक कार्य में उद्देश होना चाहिये और बहुधा होता ही है—क्यों कि उद्देशहीन कार्य बहुत थोड़े होते हैं—तो क्या यह आवश्यक नहीं कि हमारे कार्यों के उद्देश यथामति खूब विचार के बाद निश्चित किए जाने चाहियें! संपूर्ण परिस्थिति का विचार करने पर हमारे कार्यों के उद्देश ठहराये जाने चाहियें। कम से कम बड़े महत्त्व के कार्यों के उद्देशों का तो खूब विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उद्देश जब तक अच्छी तरह निश्चित नहीं, तब तक

यह ठीक नहीं हो सकता कि कार्यों की सिद्धि के लिए कौन से साधन किस प्रकार उपयोग में लाये जायं। फिर महत्त्व-पूर्ण कार्यों के उद्देश बहुधा बहुकाल-साध्य होते हैं। इस के लिये अनेक छोटे छोटे साधनों की आवश्यकता होती है, और उनके लिए अनेक छोटे छोटे कार्य करने पड़ते हैं। इन छोटे छोटे कार्यों के भी उद्देश रहते हैं जो थोड़े काल में सिद्ध हो जाते हैं और उस अन्तिम उद्देश के पोषक होते हैं। इसलिए छोटे कार्यों के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि होनी चाहिए और समय समय पर हमें यह देखते रहना चाहिए कि हमारे अन्तिम उद्देश के योग्य साधन होते हैं या नहीं। यह तभी हो सकता है कि जब उस अन्तिम उद्देश का भली भांति विचार कर उसका निश्चय किया गया हो और फिर उस की साधन-सामग्री का प्रबन्ध किया गया हो। सारांश, प्रत्येक अन्तिम उद्देश का निर्विकार रूप से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा से अधिक महत्त्व के कार्य बहुत थोड़े होंगे। इसलिए शिक्षा के भी अन्तिम उद्देशों का विचार करना आवश्यक है।

बारूद का उपयोग चाहे कुआं खोदने में कर लो, चाहे सुरंग लगाकर फौज का विध्वंस कर डालो। उसमें बारूद का कोई दोष नहीं। उसी प्रकार शिक्षा का उपयोग चाहे संस्कृति, नीति, धर्म इत्यादि बातों के लिए कर लो, चाहे चोरी, खून इत्यादि गुनाह करने में कर लो, इसमें शिक्षा का कोई दोष नहीं। वह तो शास्त्र है, उसका उपयोग चाहे जैसा कर लो। उपयोग सीखने के नियम दोनों कार्यों के लिए बहुधा वही होते हैं। कुआं खोदने में बारूद के जलाने के नियम अलग हैं, और फौज के नष्ट करने के समय उस के जलाने के नियम अलग हैं, यह समझ ठीक नहीं। तथापि उपयोग की छोटी मोटी बातें अवश्य भिन्न भिन्न होंगी और विशेष साधन-सामग्री में थोड़ा बहुत भेद होगा। इसी से उसका भिन्न भिन्न उपयोग होगा। यही बात शिक्षा को भी लागू है। चोरी करो चाहे परोपकार, पर वे ही अनुभव प्राप्त करने होंगे और उनका बहुधा एक ही विधि से

उपयोग करना होगा। परन्तु उनकी प्राप्ति के समय कुछ छोटी छोटी बातें भिन्न होती जाती हैं, और उनका उपयोग करते समय विशिष्ट साधन सामग्री की भी आवश्यकता होती है। हमने ऊपर कहा है कि उद्देशों का निश्चित करना आवश्यक है, क्योंकि कौनसी साधन-सामग्री किस प्रकार उपयोग में लाई जायगी, यह उसी से निश्चित होगा। हमारे कहने का अर्थ अब स्पष्ट हो गया होगा। छोटी मोटी बातें ही बहुत उपयोग और महत्त्व की होती हैं। शिक्षक को ये बातें अधिक महत्त्व की नहीं; तथापि शिक्षा के अन्तिम सूत्रधारों के लिए ये बातें विशेष महत्त्व की हैं। उन्हीं के कारण शिक्षा शिक्षा कहला सकती है। इसलिए यह सब जान सकते हैं कि उद्देशों का विचार कितना आवश्यक है, और शिक्षक को भी उद्देश का ज्ञान लाभकारी ही होगा। एक शिक्षक सीधा सीधा विद्यार्थी को बतला दे कि चूना और नौशादर पानी में मिलाने से अमोनिया नाम की वायु पैदा होती है। दूसरा शिक्षक चूना और नौशादर उन्हें पानी में मिलाने को बतलादे और उस में क्या फर्क होता है, यह बारीकी से देखने को कहे, बाक़ी काम विद्यार्थी करलें। पूर्वोक्त दो तरह से शिक्षा पाये विद्यार्थी अनेक बातों में, विशेष कर नैतिक गुणों में, भिन्न भिन्न होंगे। यह कुछ कम फर्क नहीं। सारांश, किसी भी दृष्टि से विचार करो, शिक्षा के उद्देशों का विचार-पूर्वक निश्चय करना अत्यन्त आवश्यक है।

(क) उदरपूर्ति का उद्देश—बहुतेरे कहेंगे कि शिक्षा के उद्देशों का विचार ही क्या है? रोटी-पानी के लिये ही तो यह खटपट है! इस पर एक प्रश्न हो सकता है। कि बहुतेरे लोग अपने लड़कों को पाठशालाओं में भेजते हैं, पर उसका कारण क्या देखा देखी नहीं है? सब कोई अपने अपने लड़के को भेजते हैं; यह देख कर कोई पुरुष अपना लड़का भेजे विना रह सकता है? इसमें कुछ तथ्यांश अवश्य होगा, पर बहुधा लोग अपने लड़के रोटी-पानी के बन्दोबस्त के लिये ही पाठशाला को भेजा करते हैं। बहुत से विद्वान् इस क्षुद्र उद्देश को देख कर अफ़सोस जाहिर किया करते हैं, पर यह उद्देश ऐसा क्षुद्र नहीं है, जैसा समझा जाता है। इस उद्देश में यह तो हो सकता है कि माता-पिता ने जैसा

भोजन पाया, उससे कुछ अच्छा भोजन पाने का यत्न लड़का करे। इसमें सुधार का भाग साफ दीख पड़ता है। कुछ अंश में इस प्रकार के सुधार से सामाजिक सुधार भी हो सकता है। अब कोई कहे कि इस प्रकार के सुधार की कीमत रुपये, पैसे, आने से करना ठीक नहीं, तो उसका यह उत्तर है कि आज कल सभी बातें रुपये, आने पैसे से गिनी जाती हैं।

इस उद्देश में अगर कुछ गुण है तो यह कि वह अत्यन्त स्पष्ट है—हम क्या चाहते हैं, यह हमें बिल्कुल साफ साफ मालूम है। उसके बारे में कोई शङ्का नहीं रह जाती। परन्तु यह एक बड़े डर का भी कारण है। उस उद्देश के प्रत्यक्ष फल में कुछ बुराई नहीं—दाल रोटी का विचार खुद त्याज्य नहीं, पर उससे उस व्यक्ति के मन का जो झुकाव हो जाता है, वह बुरा है। उससे मन संकुचित हो जाता है, और फिर वह उद्देश ही पूरा नहीं हो पाता। जब किसी भी उपाय से वा किसी भी रीति से, वह उद्देश सिद्ध होते नहीं दीखता, तब वह पुरुष सब त्याग देता है। जो बात कुछ काल में विशेष फायदेमन्द हो, पर वह प्रत्यक्ष लाभदायक न हो, उसे भी वह त्याग देता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो उदार शिक्षा आखिर को विशेष फायदेमन्द है, क्योंकि ऐसी शिक्षा पाया हुआ पुरुष दाल रोटी के प्रश्न को भी गहरी दृष्टि से सोचेगा और उससे समाज का और विशेष फायदा करेगा। ऐसा पुरुष कुछ काल के बाद सीधी रोटी पानी की शिक्षा पाए हुए पुरुषों को उसी बात में पीछे हटा ही देगा।

(ख) ज्ञान का उद्देश—यह पहले उद्देश के नितान्त विपरीत देख पड़ता है। यह दोनों उद्देश सिद्धान्त में विपरीत हों, पर व्यवहार में भी विपरीत हों, यह आवश्यक नहीं। ज्ञान अखिल मनुष्य जाति के अनुभवों का भण्डार है। जिन अनुभवों से मानवजाति को लाभ न होता हो वे आज तक हमारी स्मृति में किसी प्रकार नहीं रहते। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर की निरुपयोगी बातें कुछ काल के बाद नहीं रह जातीं, उसी प्रकार निरुपयोगी ज्ञान का अस्तित्व भी मिट ही सा जाता है।

अगर ज्ञान का उपरोक्त मतलब मान लिया तो रोट-पानी के उद्देश के सामने उसके प्रत्यक्ष फल में कोई बुराई नहीं। पर इस हेतु से ज्ञान-संचय करने वाले के मन का जो झुकाव हो जाता है, वह बुरा होता है। कोई मक्खी-चूस जिस प्रकार रुपये पैसे इकट्ठा करता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष ज्ञान-संचय करता है। कंजूसी की प्रवृत्ति दोनों में रहती हैं। इनके श्रम से दुनिया को कोई लाभ नहीं।

(ग) सभ्यता का उद्देश—ऊपर के उद्देश से इसका बहुत निकट का सम्बन्ध है। भेद इतना ही है कि इस हेतु में रूढ़ियों का विचार किया जाता है। अमुक अमुक बात के जानने से लोग सभ्य समझे जाते हैं, इसलिये वे जाननी चाहिएं, ऐसी प्रवृत्ति पैदा होती है। उनके व्यावहारिक उपयोग का कोई विचार नहीं किया जाता। आजकल संस्कृत न जानने से जिस प्रकार लोग किसी को शिक्षित नहीं समझ सकते, उसी प्रकार युरोप में लैटिन और ग्रीक भाषाओं की कदर थी। प्रत्येक शिक्षित पुरुष को ये भाषायें आनी ही चाहियें, लोगों की ऐसी समझ थी।

इस कारण वहां ये भाषायें पाठशालाओं और कालिजों में अवश्य पढ़ाई जाती थीं।। आज भी कुछ देशों की थोड़ी बहुत यही स्थिति है। हिन्दुस्तान में उतनी तो नहीं, तो भी बहुत कुछ वैसी ही स्थिति है। संस्कृत जानने में शिक्षित पुरुष का बड़ा भारी गौरव है। यही बात और तरह के ज्ञान के सम्बन्ध में कही जा सकती है। हम ने तो कहीं कहीं देखा है कि कई लोग ऐसा समझते हैं कि प्रत्येक शिक्षित सब तरह का ही ज्ञान रखता है। अगर उन्हें बतला दो कि हमें फारसी और उर्दू नहीं आती तो उन्हें आश्चर्य होता है।

(घ) मनुष्य की सब शक्तियों का सुसङ्गत विकास—

सुसङ्गत से क्या मतलब है? क्या परिपूर्ण? अगर ऐसा कहो तो

मतलब स्पष्ट हो जाता है; पर बात असम्भव हो जाती है। आज तक किसी ने भी ऐसा मनुष्य न देखा होगा, जिसकी सब शक्तियां विकसित हो गई हों। कोई भी विचारवान् मनुष्य इस बात को सम्भव न मानेगा। जिसकी तमाम मानसिक शक्तियां परिपूर्ण हो गई हों, जिसकी शारीरिक शक्ति खूब बढ़ी हो और जिसका आचरण अत्यन्त ऊंचे दरजे का हो, ऐसे पुरुष का अस्तित्व केवल कल्पना में हो सकता है। अब अगर "सुसङ्गत" की जगह "सम" समान कहो तो बात कुछ थोड़ी सम्भाव्य हो जाती है। इसे नितान्त असंभव नहीं कह सकते। पर ऐसे पुरुष इतने कम मिलेंगे कि करीब करीब यह बात असम्भव ही कहनी चाहिए। फिर थोड़ा थोड़ा सब आना, पर भरपूर कुछ भी न आना भी ठीक नहीं; कुछ न कुछ भरपूर आना ही चाहिए। नहीं तो दुनिया में काम चलना कठिन होता है। शक्तियों का सब लोग समान उपयोग नहीं कर सकते। कोई किसी शक्ति विशेष का उपयोग कर सकता है, और कोई किसी का। इसलिये प्रत्येक परिस्थिति और उद्योग धन्धे के अनुसार उसकी शक्तियों का विकास होना चाहिए, अन्यथा काम न चलेगा।

(ङ) नैतिक शील का विकास—यह चौथे उद्देश की अपेक्षा अधिक निश्चित देख पड़ता है। मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है। उसके धन-द्रव्य से, उसकी शारीरिक शक्ति से, उसकी बुद्धि से समाज को इतना मतलब नहीं जितना इस बात से है कि वह समाज के साथ कैसा बर्ताव करता है। परन्तु इसमें एक आपत्ति है। नीति की परिभाषा सब जगह एक नहीं। किसी देश में एक बात नैतिक है, तो किसी देश में वही नितान्त अनैतिक होगी। शिक्षा का नैतिक फल यही है कि बुद्धि से नीच प्रवृत्तियों और पाशविक मनोविकारों का दमन हो। जंगली, असभ्य और अशिक्षित पुरुष को इन्द्रिय-सुख ही तमाम जीवन-सर्वस्व है। शिक्षित यानी नीति-बद्ध पुरुष को बुद्धि का सुख श्रेष्ठ जान पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि नीच प्रवृत्तियों को हमेशा उच्च प्रवृत्तियों से

दबाना चाहिए। लौकिक नीति का यही अर्थ है। बालक जब जन्मता है तब वह न तो नीतिबद्ध ही रहता है, न अनैतिक ही रहता है। उसमें जन्मतः नीच और उच्च दोनों तरह की प्रवृत्तियां रहती हैं। जिस प्रकार प्रवृत्तियों का विकास होता जायगा, उसी प्रकार वह बालक बड़ा होने पर बनेगा। यह कार्य शिक्षा का है, क्योंकि नैतिक आचरण हमेशा नैतिक कृत्य करते रहने की प्रवृत्ति ही है। यह प्रवृत्ति शिक्षा से ही प्राप्त हो सकती है।

(च) शिक्षा का अन्तिम उद्देश है समाज-योग्य व्यक्तियों का विकास। ऊपर के पांचवें उद्देश में जो कुछ अनिश्चितत्व है, वह इसमें नहीं। इसमें सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का विचार होगा। बहुधा शिक्षा की सब संस्थायें समाज के द्रव्य से चलाई जाती हैं। इसलिये यह आवश्यक और स्वाभाविक बात है कि वे समाज का ख्याल रखकर चलाई जायें। इसका अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है।

(१) वही मनुष्य समाज-योग्य है जिसका भार समाज पर नहीं, जो अपना बोझ आप उठा ले सकता है—जो अपना उदर कोई भी योग्य कार्य करके भर सकता है।

(२) वही मनुष्य समाज-योग्य है जो अपना बोझ तो उठाता है ही, पर दूसरों के कामों में अनावश्यक दखल बिल्कुल नहीं देता।

(३) वही मनुष्य समाज-योग्य है जो दोनों बातें करके, अपनी शक्ति के अनुसार, समाज की और तरह से भी सहायता करता है। असली शिक्षा से प्रत्येक व्यक्ति में ये तीनों बातें पैदा होनी चाहिएं। इस उद्देश में बाकी सब उद्देश समाविष्ट हैं। जो शिक्षा इस प्रकार के मनुष्य तैयार नहीं कर सकती, वह शिक्षा शिक्षा कहलाने योग्य नहीं। उसे तुरन्त बदल देना चाहिए। नहीं तो आन्तरिक सुख और उन्नति कदापि न होगी और न वह राष्ट्र बहुत काल तक अपनी ज़िन्दगी कायम रख सकेगा। क्या हिन्दुस्तान की शिक्षा-प्रणाली इस उद्देश के माप से निश्चित की गई है?

———:o:———

१२

सूर्योदय किसे कहते हैं ?

पृथ्वी अपनी धुरी पर फिरती हुई जब किसी विशेष स्थान को सूर्य की तरफ लाती है, तब वहां दिन होता है। जब वह नगर सूर्य के सामने आता है, तब दोपहर होती है और जब वह नगर सूर्य से दूर चला जाता है, तब वहां रात हो जाती है। सूर्यास्त के बाद, रात और दिन के बीच में भी उषा-काल के समान प्रकाशमान समय रहता है। जब वह नगर पृथ्वी के साथ फिरता हुआ दूसरे दिन फिर सूर्य के प्रकाश में आ जाता है, तब वहां फिर दिन होता है। जब हमारे यहां दिन होता है, तब हमारे सामने की ओर उसी समय रात होती है। आप जानते ही हैं कि तार पहुंचने में कुछ भी समय नहीं लगता, तिस पर भी यहां से दोपहर का भेजा हुआ तार अमेरिका में आधी रात के समय पहुंचता है। इस से यह साबित होता है कि जब पृथ्वी की एक बाज़ू पर दिन होता है तब उसकी दूसरी बाज़ू पर रात होती है।

पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर फिरती है। यह बात हमें मालूम जाने से दिन-रात होने के कारण समझने में कुछ भी दिक्कत नहीं पड़ती। ले लोग समझते थे कि सूर्य पानी में डूब जाता है और रात को देवता दूसरा ा सूरज बना पूर्व से पश्चिम में दौड़ाते हैं और वहां वह पानी में डूब कर नष्ट

हो जाता है। उस समय कुछ लोग ऐसा भी सोचते थे कि इतने बड़े सूर्य का नाश होना शक्य नहीं, अतएव हमारा कहना ग़लत है। फिर वे लोग कहा करते थे कि पृथ्वी के आगे पश्चिम को एक बड़ा भारी समुद्र है, और उत्तर की ओर ऊंचे बर्फीले पहाड़ों की उस बाज़ू पर भी समुद्र है। वहां बरफ और पहाड़ बहुत हैं, इस लिये हम वहां नहीं जा सकते। इसी समुद्र में वल्कन नामक एक देवता रहता है। वह सांझ को, जब सूर्य पानी के पास पहुंचता है, सूर्य को अपनी नाव में बिठा, उत्तर के रास्ते से पूर्व में पहुंचा जाता है, और फिर पश्चिम में आ, सूर्य के आने की राह देखा करता है। लोग अधिक पढ़े-लिखे न थे और न वे खगोल-शास्त्र ही जानते थे, यही कारण है कि वे कपोल कल्पनाएं गढ़ा करते थे। किन्तु ज्यों ज्यों लोगों का ज्ञान बढ़ता गया, उन्हें यह बातें झूठी मालूम होने लगीं। मल्लाह जो कि समुद्र में प्रवास किया करते थे, कहते थे कि हमने आज तक न तो वल्कन को ही देखा और न सूर्य को ही समुद्र में डूबते पाया।

उन लोगों के पास साधन नहीं थे, इसी से उन्हें इतना कष्ट उठाना पड़ता था। परन्तु साधन होते हुए भी यदि लोग सावधानी से न देखें तो समझना चाहिये कि वे भी उन्हीं के समान गिने जायंगे। फ्रांस-देश का एक खगोल-शास्त्री दूरबीन द्वारा चन्द्र को देख रहा था। उसे उस पर हाथी देख पड़ा। यह बात उसने अपने पास खड़े हुए लोगों से कही; किन्तु उन लोगों में से एक आदमी को इस बात पर विश्वास नहीं आया। अतएव, उसने भी चन्द्र को देखा तो उसे भी हाथी दिखाई दिया, परन्तु तब भी उसे यह बात ग़लत मालूम हुई। उसने सोचा कि अवश्य ही दूरबीन ख़राब हो गई है। जब कांच खोल कर देखा गया तो उस में चूहा पाया गया। यदि सचेत होकर निरीक्षण न करते तो उनके हाथ से कितनी भूल होती? अतएव प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि सचेत होकर निरीक्षण किया करे।

(ज्योतिर्विज्ञान)

१३

राजा भोज का सपना

वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े २ महीपाल उसका नाम सुनते ही कांप उठते थे और बड़े बड़े भूपति उसके पांव में अपना सिर नवाते, सेना उसकी समुद्र की तरङ्गों का नमूना, और खज़ाना उसका सोने चांदी और रत्नों की खान से भी दूना। दान में राजा कर्ण को लोगों के जी से उसने भुला दिया था और न्याय में विक्रम को भी शर्मा दिया था। कोई उसके राज भर में भूखा न सोता और न कोई उघारा रहने पाता। जो सत्तू मांगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दिया जाता। पैसे की जगह लोगों को अशरफियां बांटता और मेंह की तरह फ़क़ीरों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिए ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और एक एक दिन में लाख २ गौ दान दे डालता। सवालाख ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने को बैठता। तीर्थ-यात्रा, स्नान, दान और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता। बड़े बड़े चांद्रायण किए थे और बड़े बड़े जङ्गल पहाड़ छान डाले थे। एक दिन शरद् ऋतु में सन्ध्या के समय सुन्दर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुण्ड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के दरमियान जलपक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे से स्वस्थ-चित्त बैठा हुआ

महलों की सुनहली कलसियां लगी हुई संगमरमर की गुम्बजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चांद देख रहा था और निर्जन एकान्त होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाशित किया जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जन्तु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं के भला करने में गंवाया और व्रत उपवास करते करते अपने फूल से शरीर को कांटा बना दिया। जितना मैंने दान दिया, उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जिन जिन तीर्थों की मैंने यात्रा की वहां कभी परन्दे ने पर भी न मारा होगा। मुझ से बढ़ कर अब इस संसार में और कौन पुण्यात्मा है, और आगे भी कौन हुआ होगा? जो मैं ही कृतकार्य नहीं तो फिर और कौन हो सकता है? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है। वह मुझे अवश्य अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे भी कुछ दोष लगे। इसी अर्से में चोबदार पुकारा, "चौधरी इन्द्रदत्त निगाह रूबरू श्री महाराज सलामत।" भोज ने आंख उठाई, दीवान ने साष्टांग दण्डवत की, फिर सम्मुख आ हाथ जोड़ यों निवेदन किया, "पृथ्वीनाथ, वह इनारा सड़क पर जिसके वास्ते आपने हुक्म दिया था बनकर तैयार होगया और वहां वह आम का बाग़ भी लग गया। जो पानी पीता है आप को आशीष देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता है आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और कहा कि सुन मेरी अमलदारी भर में जहां जहां सड़क है, कोस कोस पर कुएं खुदवा के सदावरत बैठा दे और दुतर्फ़ा पेड़ भी जल्द लगवा दे। इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया कि धर्मावतार वह जो पांच हज़ार ब्राह्मण हर साल जाड़ों में रजाई पाते हैं सो ड्योढ़ी पर हाज़िर हैं। राजा ने कहा—"अब पांच के बदले पचास हज़ार को मिला करे और रजाई की जगह शाल दुशाला दिया जावे।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने के वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दारोग़ा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि महाराज वह बड़ा मन्दिर जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज उसकी नेंव खुद गई, पत्थर

गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं। महाराज ने त्योरियां बदल कर उस दारोग़ा को खूब घुड़का और कहा कि मूर्ख वहां पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिल्कुल मन्दिर सङ्गमरमर और सङ्गमूसा से बनवाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम आवे जिस से भगवान् भी उसे देख कर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे। यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज! धन्य! क्यों न हो जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सत्युग बना दिया है, मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया हो। आज आप से बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है। हम ने तो पहिले ही से आप को साक्षात् धर्मराज विचारा है। व्यास जी ने कथा आरम्भ की। कथा के पीछे देर तक भजन कीर्तन होता रहा। इतने में चांद चढ़ आया, घड़ियाली ने निवेदन किया कि महाराज रात आधी के निकट पहुंची। राजा की आंखों में नींद छा रही थी। व्यास जी कथा कहते थे पर राजा को ऊंघ आती थी। उठकर रनिवास में गया, जड़ाऊ पलङ्ग और फूलों की सेज पर सोया। रानियां पैर दबाने लगीं। राजा जी की आंख झपक गई स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा सङ्गमरमर का मन्दिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया। जहां कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है तो बारीकी में हाथी दांत को भी मात कर दिया। जहां कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है तो ज़वाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुल्लालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाये हैं। कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकाल कर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने के चोबों पर कमखाब के शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौज़ों में गुलाब और केवड़े के फ़ुहारे छूट रहे हैं। मानों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमण्ड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी दहने, कभी बायें निगाह करता और मन में सोचता कि क्या अब इतने पर भी मुझे कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न

कहेगा ? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है। दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा। इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मन्दिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है, कि एक ज्योति सी उस के सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य से भी अधिक है। परन्तु जैसे सूय को बादल घेर लेता है इसी प्रकार उसने अपने मुंह पर नक़ाब डाल लिया है। नहीं तो राजा की आंखें कब उस पर ठहर सकती थीं। वरन् इस नकाब पर भी मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही कांप उठा। लड़खड़ाती सी ज़बान से बोला कि हे महाराज ! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं ? उस दैवी पुरुष ने बादल की गरज के समान गम्भीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूं,। मैं अन्धों की आंख खोलता हूं, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूं, मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूं और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूं। हे भोज ! यदि कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ, और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन मन्दिरों का भेद ले। इस समय हम तेरे ही मन को जांच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाहें करके गरदन खुजलाने लगा। सत्य बोला "भोज ! तू डरता है। तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है ?" भोज ने कहा कि नहीं, इस बात से तो नहीं डरता; क्योंकि जिसने अपने को नहीं जाना उसने फिर क्या जाना। सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूं कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जांचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर कांटा बना दिया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला। कोई तीर्थ बाकी न रक्खा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा। ऐसा कोई आदमी नहीं है जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूं। सत्य बोला "ठीक, पर भोज यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है ? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं ? पर सूर्य की किरणें पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं ? क्या कपड़े में छने हुए पानी

के दरमियान किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं ? पर जब उस शीशे को लगाकर देखो जिससे छोटी चीज़ बड़ी नज़र आती है तो एक बूंद में हज़ारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। बस जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिये डरता नहीं तो आ, मेरे साथ आ, मैं तेरी आंखें खोलूंगा।" निदान सत्य यह कहके राजा को मन्दिर के उस ऊंचे दरवाजे पर चढ़ा ले गया कि जहां से सारा बाग़ दिखलाई देता था और फिर वह उस से यों कहने लगा कि भोज मैं अभी तेरे पाप कर्मों का कुछ भी ज़िक्र नहीं करता क्योंकि तूने अपने को निरा निष्पाप समझ रक्खा है। पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किये हैं ? यदि उनसे सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा तो मैं भी सब लोगों की तरह निस्सन्देह तेरी प्रशंसा करूंगा। राजा यह सुन के अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह तो मानों उस के मन की बात थी। पुण्य कर्म के नाम ने उस के चित्त को कमल सा खिला दिया। । उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया कि भारी से भारी पाप भी उसके पासङ्ग में न ठहरेगा। राजा को वहां उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊंचे ऊंचे अपनी आंख के सामने दिखाई दिये। फूलों से इतने लदे हुए कि मारे बोझ के उनकी टहनियां धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं। देख, फलों के बोझ से धरती पर नवे जाते हैं। यह तीनों मेरे ही लगाये हैं। पहले में तो वह सब लाल फूल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वह पीले पीले मेरे न्याय और तीसरे में यह सब सफेद फूल मेरे तप का प्रभाव दिखलाते हैं। मानों उस समय चारों ओर से यह ध्वनि राजा के कान में चली आती थी कि धन्य हो महाराज, धन्य हो ! आज तम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं। तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो। इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी तुम्हें इससे अधिक मिलेगा।

तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आंखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं पर तुम्हें एक छींटा भी नहीं लगाते। सत्य बोला कि भोज जब मैं इन पेड़ों के पास से आया था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया बतलाता है तब तो उन में फल फूल कुछ भी नहीं था। निरे ठूंठ से खड़े थे। यह लाल पीले और सफेद फूल कहां से आ गये? यह सचमुच उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और खुश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिये हैं। चल उन पेड़ों के पास चल कर देखें तो सही। मेरी समझ में तो यह लाल फूल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है यश और कीर्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाये हैं। निदान ज्यों ही सत्य ने पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वह सारे फूल, जैसे आसमान से ओले गिरते हैं, एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती बिल्कुल लाल हो गई पर पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि राजा जैसे कोई किसी चीज़ को मोम से चिपकाता है उसी तरह तू ने अपने भुलावे को, प्रशंसा पाने की इच्छा से यह फल इस पेड़ पर लगा लिये थे। सत्य के तेज से वह मोम गल गया। पेड़ ठूंठ का ठूंठ रह गया। जो कुछ तूने दिया और किया सब दुनिदा के दिखलावे और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये। केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ नहीं दिया, यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तूही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख! इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था। भोज ने एक ठंडी सांस ली। उस ने तो औरों को भुलाया था पर वह सब से अधिक भूला हुआ निकला।

(राजा शिवप्रसाद सितारए हिन्द)

——:०:——

१४

कोरे ठाठ-बाठ की बुराइयां

साधारण स्थिति के लोग कुछ तो देखादेखी फैशन के फेर में पड़ जाते हैं और कुछ उन्हें इस बात का ध्यान होता है कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ? यही "लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ?" समाज को बड़ी हानि पहुंचाता है । इसी भय से हम तरह तरह की कठिनाइयां झेलते हैं और असुविधाओं में पड़ते हैं। लोगों के इस भय के दास बनकर हम अपनी बड़ी दुर्दशा करते हैं। हम अपने साथ तरह तरह के ऐसे खर्च लगा लेते हैं जो हमारी आर्थिक स्थिति को देखते हुए कभी उपयुक्त नहीं होते। पहली टोपी अच्छी है, तो भी एक और टोपी हम केवल इसलिए खरीद लेते हैं कि जिससे लोग यह न कहें कि इनके पास एक ही टोपी है । अपनी वास्तविक दशा छिपाने और झूठी हैसियत दिखलाने के लिये हमें इतना अधिक व्यय करता पड़ता है जितने में एक परिवार का अच्छी तरह निर्वाह हो सकता है । ऐसा करना केवल आर्थिक दृष्टि से ही हानिकारक नहीं है बल्कि नैतिक दृष्टि से भी बहुत बुरा है; क्योंकि इससे हम लोगों को व्यर्थ धोका देते हैं और साथ ही अपनी दुर्दशा भी करते हैं । इस प्रकार ठाठ-बाठ रखने से उसके उद्देश की भी पूर्ति नहीं होती, क्योंकि आज कल सभी लोग बड़े ठाठ-बाठ से रहते हैं और कोरा ठाठ-बाठ कभी वास्तविक योग्यता का परियाचक नहीं समझा जाता; और लोगों को वास्तविक योग्यता का पता भी कभी न कभी लग ही जाता है ।

यह समझना बड़ी भारी मूर्खता है कि केवल ठाठ-बाठ से ही मनुष्य की वास्तविक

योग्यता जानी जाती है। मनुष्य का वास्तविक भूषण उसका सदाचार और विद्या आदि है। एक अंगरेज़ी कहावत का अभिप्राय है कि तुम धन उपार्जन करो, सारा संसार तुम्हें भला आदमी कहेगा। बहुत ठीक। जिसके पास कुछ धन हो वह संसार में भला आदमी कहला सकता है; पर यह बात भूल न जानी चाहिए कि सारे संसार का धन उसकी भलमनसाहत और वास्तविक योग्यता में तनिक भी वृद्धि नहीं कर सकता। लुच्चा आदमी यदि करोड़ पति हो जाने पर बराबर कुकर्म करता रहेगा तो वह लुच्चा ही रहेगा; चार आदमी उसे भला-मानुस कह लें, पर केवल धन के कारण उसमें भल-मनसाहत कभी आवेगी नहीं। भल-मनसाहत तभी आवेगी जब वह कुकर्म छोड़कर सत्कर्म करेगा। जो मनुष्य भला आदमी बनना चाहता हो; उसे उचित है कि वह सदा सत्यनिष्ठ और सदाचारी रहे और सीधी सादी तरह से अपना जीवन निर्वाह करे। ऐसा मनुष्य कभी किसी से ईर्षा या द्वेष नहीं करता, किसी की खुशामद नहीं करता, किसी से नहीं दबता, सदा स्वतन्त्र और प्रसन्न-चित्त रहता है। पर इसके विपरीत आचरण करने वाला मनुष्य सदा दुखी और चिन्तित रहता है। उसे कभी शान्ति नहीं मिलती और सदा धुकधुकी सी लगी रहती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सदा अपनी आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए जीवन-निर्वाह करना चाहिए, और अपनी शक्ति के बाहर कोई व्यर्थ काम नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें ऐसे लोगों से मिलना जुलना भी न चाहिये जो अपने वित्त के बाहर खर्च करते हों; क्योंकि केवल उनकी संगति के कारण ही कभी कभी हमारे लिये अपनी शक्ति से बाहर खर्च करना अनिवार्य हो जायेगा। जीवन सदा वास्तविक रूप में होना चाहिए, दिखौआ या बनावटी नहीं। आलीवर क्रामवेल ने एक बार अपना एक चित्र बनवाया था। जब चित्रकार ने चेहरे की झुर्रियां आदि ठीक करके चित्रित आकृति को और सुन्दर बनाना चाहा तो उसने कहा था,—"चित्र में मेरी आकृति बिल्कुल ज्यों की त्यों रहे, नहीं तो मैं इसका दाम ही नहीं दूंगा।" यही अपने आप को ज्यों का त्यों प्रकट करना वास्तविक मनुष्यता है।

१५

ईर्षा के दोष

दूसरों के दुख से तो बहुत से लोग दुखी होते हैं पर कुछ दुष्ट स्वभाव के ऐसे लोग भी होते हैं जो दूसरों को सुखी देख कर भी दुखी होते हैं। ऐसे लोगों को ईर्षालु कहते हैं। स्वभाव का यह दुर्गुण विचारों को भी नष्ट करता है और शरीर को भी। ईर्षालु मनुष्य प्रायः दूसरे को सुखी, सम्पन्न या सफल मनोरथ देखकर मन ही मन जलते हैं, और जहां तक हो सकता है, उसका सुख या सम्पन्नता नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे मनुष्य व्यर्थ में शत्रुता भी मोल ले बैठते हैं और अपने शरीर में एक रोग भी लगा लेते हैं। एक कहानी है कि एक बार कुछ लोग एक बहुत ही दुबले पतले और रोगी मनुष्य को राजा भोज के पास पकड़ कर लाये। जब राजा ने उस से पूछा कि तुम्हारी यह दशा क्यों है। तो उसने उत्तर दिया कि बाल्यावस्था में मैं आपका सहपाठी था। आप की बुद्धिमत्ता और योग्यता आदि के कारण उस समय मैं आप से ईर्षा करता था। इसके उपरान्त जब आपको सिंहासन मिला तब मेरी ईर्षा और भी बढ़ गई। जब मैं आपका इतना वैभव देखता हूं तब मेरे शरीर में आग सी लग जाती है। आप के दान और यश आदि को देखकर मुझे संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इसी कारण मेरी यह दुर्दशा हुई है। यह सुनकर राजा ने उसे एक बहुत बढ़िया मकान रहने के लिये दिया, उसकी सेवा के लिए सेवक रख दिए और उसे बहुत सा धन दिया। उसे बहुत से हाथी घोड़े भी मिल गए और

एक सुन्दरी से उसका विवाह भी हो गया। राजा ने उसे यह भी कह दिया कि तुम कभी किसी प्रकार की चिन्ता न करना और जिस चीज़ की आवश्यकता हो, मुझ से मांग लेना। कुछ दिनों के उपरान्त राजा ने उसे बुलवा कर देखा तो उस समय भी उसकी दशा पहले की सी थी। इस बार राजा के कारण पूछने पर उस ने कहा कि और सब सुख-सामग्री तो मेरे पास हैं, पर अधिकार नहीं है। राजाने उसे एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त करके उसकी वह कामना भी पूरी की। पर इस से भी उसकी दशा न बदली। अन्त में जगीरें तक दी गईं, पर वह ज्यों का त्यों रोगी और दुर्बल बना रहा। अन्त में उसने कहा कि मेरा हृदय उसी समय शान्त होगा जब मैं उज्जैन के सिंहासन पर बैठूंगा। राजाने समझ लिया कि इस ईर्षा के कारण यह अवश्य मर जायगा, इसकी रक्षा का अब और कोई उपाय नहीं है। और अन्त में हुआ भी यही, वह मनुष्य ईर्षा के कारण कुढ़ कुढ़ कर मर ही गया।

ईर्षालु मनुष्य सदा दूसरों की प्रतिष्ठा या वैभव आदि नष्ट करने के यत्न में ही लगा रहता है। वह दूसरों की प्रत्येक बात का बुरा ही अर्थ निकालता है और उनके कार्यों का अभिप्राय उसकी समझ में बुरा और दुष्ट ही होता है। जहांतक हो सकता है वह दूसरों का अपकार करने का अवसर ढूंढा करता है। ऐसा मनुष्य स्वयं कितना बुरा होता है और कितनी बुराई कर सकता है, उसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इससे सदा बचना चाहिए। हां इसका एक सात्त्विक रूप होता है जिसे स्पर्द्धा कहते हैं और जो बहुत ही श्रेष्ठ और लाभदायक होती है। अपने गुणों आदि का अपने से श्रेष्ठ किसी गुणी के गुणों के साथ मिलान करना और अपने आप को उसके समान गुणी बनाने की इच्छा का नाम स्पर्द्धा है। ईर्षा की भांति इस में दूसरों के गुणों या वैभव आदि के ह्रास का दुष्ट भाव मन में नहीं होता, बल्कि साधु उपायों से उनके समकक्ष बनने की सात्त्विक और प्रशंसनीय कामना होती है। इससे मनुष्य की आत्मा

उन्नत होती है और उसके गुणी और यशस्वी होने में उत्तेजना मिलती है। ऐसे मनुष्यों का लक्ष्य सदा महान् पुरुषों पर ही रहता है और स्वयं उनके महान् पुरुष बनने में अधिक विलम्ब नहीं लगता। उनके उद्देश साधु और महत्त्व-पूर्ण होते हैं और संसार में उनके यश का अच्छा विस्तार होता है।

(मानव-जीवन)

———:o:———

१६

महाराजा चन्द्रगुप्त

कहते है कि मौर्य्य राजवंश के प्रथम पुरुष महाराज चन्द्रगुप्त की माता एक नीच जाति की स्त्री थी। उसका नाम मुरा था। चन्द्रगुप्त के विषय में इतिहास-लेखकों में मतभेद है। कोई कोई कहते हैं कि चन्द्रगुप्त के पिता मगधदेश के राजवंश में से थे और उनका नाम धननन्द था; परन्तु मैक्रिंडल साहिब के कथन से परिज्ञात होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त हिमालय पर्वत के छोटे से एक राज्य के अधिपति के पुत्र थे। एक युद्ध में इनकी मृत्यु तथा राजध्वंस होने पर चन्द्रगुप्त की माता वहां से भागी और मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र में आकर रही। वहीं इस होनहार पुत्र का जन्म हुआ। कहते हैं कि माता सद्योत्पन्न बालक को एक गडरिये के मकान के पीछे छोड़ चल दी। गडरिये ने उसे पड़ा देख उठा लिया और बड़े लाड़ दुलार से उसका लालन पालन करने लगा। कदाचित् चांदनी रात में उसे अकेला पड़ा पाकर उस गडरिये ने उसका नाम चद्रगुप्त (चन्द्र से रक्षित) रक्खा। उसी समय पाटलिपुत्र में एक ब्राह्मण रहता था। वह बहुत ही कुरूप था। वह राजनीती आदि अनेक विद्याओं में अतिशय निपुण और साथ ही महाधूर्त भी था। मगध के राजा धननन्द से अपमानित हो यह चाणक्य महाराज अहर्निश इसी चिन्ता में व्यग्र रहते थे कि राजा के गर्व का दमन किस प्रकार करूं। पता

लगाते लगाते उन्हें विदित हुआ कि उस गडरिये के घर जो बालक है वह एक राजकुमार है। तब उन्होंने उसे गडरिये से मोल ले राजकुमारोचित शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। जब चन्द्रगुप्त ने होश संभाला तब चाणक्य ने उसे एक गुप्त सेना का नायक बना दिया और थोड़े दिन के पश्चात् धननन्द की प्रजा को उन से असन्तुष्ट कर राज-विप्लव करा दिया। इस षड्यन्त्र में सफलता न होते देख चाणक्य चन्द्रगुप्त को ले देश छोड़ कर भाग गया।

लङ्का के एक बौद्ध-ग्रन्थ से, जिसका नाम महावंश-टीका है परिज्ञात होता है कि वह एक किसान की झोंपड़ी में जा छिपा। एक दिन उस किसान की स्त्री ने रोटी बनाई और उसके लड़के ने रोटी का मध्य भाग तो खा लिया, पर उसकी कोर फेंक दी और दूसरी रोटी मांगी। उस स्त्रीने हंसी हंसी में कहा "बेटा! तू तो चन्द्रगुप्त के आचरण का अनुकरण करने लगा है।" लड़के ने पूछा कि–"मां जी' मैंने क्या किया—" "बेटा! जैसे तूने रोटी की कोर फेंक कर बीच की रोटी खाई, इसी प्रकार चन्द्रगुप्त भी बिना किसी बाहरी प्रदेश के जीते एक दम राजधानी पर जा टूटा। इसी कारण उसकी सेना हार गई। यह उसका बड़ा भारी दोष था!"चन्द्रगुप्त ने अपने कानों से ये बुद्धिमानी के वचन सुने और तदनुसार मगध देश जीतने के लिए नये नये उपाय सोचने लगा।

इतने में मकदूनिया देश के यवन सम्राट् अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारत-पर चढ़ाई की। वह पञ्जाब के महाराज पौरव को परास्त कर अपनी सेना सहित गंगातटस्थ प्रान्त की ओर अग्रसर हुआ। चन्द्रगुप्त और चाणक्य उस से मार्ग ही में जा मिले। अलक्षेन्द्र को मगध देश के महाराज धननन्द के धन और वैभव का समाचार सुना कर उन्होंने उसके हृदय में मगध देश के जीतने की इच्छा बलवती की। उसे परामर्श दिया कि आप मगध देश पर आक्रमण

कीजिये और धननन्द को पदच्युत कर चन्द्रगुप्त को अपना आश्रित राजा बनाइये। अलक्षेन्द्र इस कार्य को अपने बाएं हाथ का काम समझता था; परन्तु चन्द्रगुप्त के धूर्त विचार सुन उसे बड़ी घृणा हुई और उसे अतिशय कुपित देख चन्द्रगुप्त यवन छावनी से प्राण ले भागा। उसके चले जाने के पश्चात् अलक्षेन्द्र ने अपने सेनानायकों को एकत्र कर मगध देश पर आक्रमण करने के विषये में उन से परामर्श किया; परन्तु उन लोगों का मन पाकर वह अपने देश को सन् ईस्वी से ३२५ वर्ष पूर्व लौट गया। वहां पहुंचने के दो वर्ष उपरान्त अर्थात् सन् ईस्वी से ३२३ वर्ष पूर्व उसका परलोक-वास हो गया।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य के खण्ड खण्ड हो गए। इसके थोड़े ही दिनों के पश्चात् पौरव का वध यडीमस नामक यवन सर्दार ने कर डाला। यह देख पंजाब प्रान्त की हिंदू प्रजा ने बड़ा उपद्रव उठाया। राज-विप्लव का उत्तम अवसर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने हाथ से नहीं जाने दिया। उसने लुटेरों की एक बड़ी भारी सेना के द्वारा पञ्जाब के रहने वाले यवन कर्मचारियों को मार काट कर भगा दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का पुरुषार्थ देख और उसे अपना नेता समझ पंजाबी प्रजा ने उसका अधिकार स्वीकार किया। चणाक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त इस प्रकार बलवान् होकर और बड़ी सेना को साथ लेकर धीरे धीरे पूर्व की ओर बढ़ा। मार्ग में जो राज्य पड़े उन सब को वह अपने अधिकार में लाता हुआ अन्त में मगध देश की सीमा पर जा पहुंचा।

वहां एक नए ही नाटक का अभिनय हो रहा था। महापद्म नामक एक नापित-कुमार अपनी प्रेयसी मगध देश की रानी की सहायता से राजवंश का नाश कर स्वयं राजा बन बैठा था। यहां की सारी प्रजा इस दुष्टकार्य को देख बहुत असन्तुष्ट हो रही थी। यद्यपि मगध देश के राजा के पास २० लक्ष पदाति और २० सहस्र अश्वारोह सेना तथा दो सहस्र रथ और ४ सहस्र हाथी थे, तथापि उसे अपने दुष्ट कार्य का फल मिला।

चन्द्रगुप्त की सेना से उसकी चतुरंगिनी सेना हार गयी और वह भी

चन्द्रगुप्त के हाथ से मारा गया । अब तो चन्द्रगुप्त और चाणक्य की बहुत ही काल की इच्छा रूपिणी लता फलवती हुई। चन्द्रगुप्त मगध देश के सिंहासन पर सन् ईस्वी से ३२२ वर्ष पूर्व आरूढ़ हुआ ।उसने अपनी माता मुरा के नाम से अपने वंश का नाम मौर्य रक्खा । तदनन्तर उसने अन्यान्य राजाओं को परास्त करके चक्रवर्ती नरेश की उच्चाभिलाषा पूर्ण की ।

वर्ष भर में उत्तरी भारत का अधिकांश उसके अधिकार में आ गया । अलचेन्द्र के मरने के उपरान्त सिलूकस निकेटर नामक एक यवन सेनापति ने फ़ारस और हिन्दू-कुश-पर्वत के समीपवर्ती देशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था । अपना राज्य दृढ़ करके उसने भी अलचेन्द्र के सदृश हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने का दृढ़ संकल्प किया और एक बड़ी सेना लेकर विजय का डंका बजाता हुआ वह पंजाब प्रान्त को अनायास ही अपने वश में करके गङ्गा-तटस्थ प्रान्त की ओर बढ़ा; परन्तु इधर उसे एक बड़े भारी बलवान् शत्रु चन्द्रगुप्त का सामना करना पड़ा । इस युद्ध में उसे कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हुई । अन्त में विवश हो उसे चन्द्रगुप्त से सन्धि करनी पड़ी । इस सन्धि में यह ठहराया गया कि सिलूकस निकेटर चन्द्रगुप्त को हिन्दू-कुश से दक्षिण के सब प्रदेश प्रदान करे और अपनी राजपुत्री भी उसे विवाह दे । इसके बदले में चन्द्रगुप्त ने केवल ५०० हाथी देने और एक यवन राजदूत अपनी राज सभा में रखने की प्रतिज्ञा की । चन्द्रगुप्त के समय का बहुत सा वृत्तान्त इसी यवन राजदूत के लेखों से ज्ञात होता है; परन्तु शोक की बात है कि इन लेखों का अधिकांश अब दुष्प्राप्य हो गया है । इसका नाम मेगस्थिनीज़ था । वह चन्द्रगुप्त के दरबार में सन् ई० से लगभग ३०२ वर्ष पूर्व आया था और वहां पांच वर्ष तक रहा ।

चन्द्रगुप्त की राज धानी पाटलिपुत्र गङ्गा और सोन नदियों के सङ्गम पर थी । इसके मकानों के चिह्न अब भी नहर आदि खोदने से पाये जाते हैं । आज कल इसी जगह पर पटना बसा हुआ है । वह लिखता है कि पटना शहर लम्बा बसा

हुआ था और उसका क्षेत्रफल नौ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा था। इस नगर के चारों ओर काठ के तीक्ष्ण लट्ठों की भीत थी और उसके बाद जलपूर्ण परिखा थी। नगर में ६४ फाटक थे जिन पर सैंकड़ों बुर्ज बने हुए थे। शहर के प्रबन्ध के लिए छः म्युनिसिपलटियां थीं। प्रत्येक म्युनिसिपलटी में ५ सभासद् थे, जो विदेशी व्यापारियों के माल का वज़न, नाप, बाज़ारभाव, चुंगी, फौती पैदाइश की अलग अलग देख रेख रखते थे। यह बात सच है कि सभासद् ठीक नहीं चुने जाते थे, परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इतने पुराने काल में भी हिन्दू लोग म्युनिसिपलटी बनाना जानते थे। चन्द्रगुप्त के पास एक बड़ी भारी सेना थी, जिसमें लड़ाई के नौ सहस्र हाथी, और उनकी देख रेख के लिए ३६ सहस्र मनुष्य नियत थे। सवारों की संख्या तीस सहस्र और प्यादों की साठ लक्ष थी। रथों की संख्या ठीक नहीं दी गई। परन्तु ज्ञात होता है कि वह लगभग एक लक्ष के रही होगी, क्योंकि वह महापद्म की संख्या से बहुत ज्यादा थी। इस बड़ी भारी फ़ौज के ठहरने का स्थान पाटलिपुत्र के निकट था। मनुष्य सात जातियों में विभक्त थे। (१) तत्त्व-ज्ञानी, जो कि शायद साधु और बौद्ध लोगों के महन्त होंगे। (२) किसान, (३) इधर उधर घूमने वाली जातियां, (४) शिल्पकार, (५) सिपाही, (६) सरकारी नौकर और (७) जो कि राजा की सहायता में काम काज करते थे। मेगस्थिनीज़, मालूम होता है, विदेशी होने के कारण जाति भेद को ठीक ठीक नहीं समझ सका। मेगस्थिनीज़ के लेखानुसार कोई अपनी जाति के बाहिर विवाह और अपने व्यवसाय को छोड़ दूसरा व्यवसाय नहीं कर सकता था। जो आदमी सिपाही का काम करता चला आया है वह किसानों का काम नहीं कर सकता था। सम्भवतः ऐसा कानून ब्राह्मणों के समय में रहा हो, परन्तु बौद्ध लोगों के लेख और पुराने नाटकों से यह बात सिद्ध नहीं होती। उनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि मनुष्य किसी जाति की स्त्री से विवाह और निज इच्छानुसार व्यवसाय कर सकता था और उसको इसके लिए कुछ दण्ड नहीं दिया जाता था। जाति के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन दिनों इतना जाति बन्धन

दृढ़ नहीं था जितना कि सम्मति है। समस्त पृथ्वी पर राजा का अधिकार था और प्रजा अपनी पैदावार का लगभग एक चौथाई भाग राजा को देती थी। सिंचाई के लिए नहर बनवाने और सिंचाई का महसूल लगाने के लिए अफसर रक्खे जाते थे। जाति सम्बन्धी झगड़ों का होना बन्द हो गया था। जब फौज लड़ाई के काम में लगी रहती थी तब किसान लोग खेती का काम बड़े सुख चैन से करते थे। राजा का निवास-स्थान जो पाटलिपुत्र में था, फारस के महलों से कहीं बढ़कर था। राजमहल बागीचों और तालाबों के बीच में बना था। वह लकड़ी का था और उसपर सोना मढ़ा हुआ था। कपटी प्रबन्ध करने वालों के भय से राजा बहुधा अपना बिस्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदला करता था। उसे रथों की दौड़, जानवरों की कुश्ती और आखेट बहुत ही पसन्द थे। जब वह शिकार के लिए जाता था तब उसका रास्ता दोनों ओर रस्सों से घेरा जाता था, और उनके चारों ओर स्त्रियां रहती थीं। उन रस्सों के भीतर जाने वालों को प्राणदण्ड दिया जाता था। राजदरबार दिन में एक बार भरा करता था। जब वह न्यायासन पर बैठता था, तब उसके हाथ पैर छोटे छोटे काले बेलनों से दाबे जाते थे। दूर के देश सूबेदारों के अधिकार में थे। उन लोगों के काम काज का हाल राजा अपने समाचार-लेखकों के द्वारा अच्छी तरह मालूम कर लेता था और उनपर अच्छी देख रेख रखता था। समाचार-लेखक गुप्त रीति से देश के प्रत्येक भाग में घूमा करते थे और समय समय पर राजा के पास रिपोर्ट भेजा करते थे। वे लोग नीच और सब से बुरे मनुष्य को भी अपना नौकर बनाने में नहीं हिचकिचाते थे। कानून भङ्ग करने वालों के लिये सजा बहुत थोड़ी परन्तु कड़ी थी। जैसे—छोटे छोटे अपराधों के लिये अङ्ग भङ्ग या प्राणान्त दण्ड दिया जाता था। राज्य में उस समय बड़े अपराध नहीं होते थे। हिन्दू लोग सीधे स्वभाव के थे। वे लोग आभूषण आदि बाह्याडम्बरों के बड़े भक्त थे। मेगास्थिनीज़ के लिखने से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के

अच्छे राज्य-प्रबन्ध के कारण मनुष्य बड़ी ईमानदारी से रहते थे । चन्द्रगुप्त पहिला राजा था जिसका अधिकार समस्त हिन्दुस्तान में था । इसके पहिले हिन्दुस्तान का राज्य छोटे छोटे राजाओं के अधिकार में रहता था । ये लोग बहुधा आपस में लड़ा करते थे और अपने महाराजाधिराज के विरुद्ध हो जाया करते थे । चन्द्रगुप्त ने, जो बड़े पक्के दिल का मनुष्य था, सारे हिन्दुस्तान को अपने अधिकार में लाने का विचार किया और धीरे धीरे अपने समीपी राजाओं को एक एक करके जीतना आरम्भ कर दिया । वह अपने समस्त राजत्वकाल में यही करता रहा और अन्त में सारे हिन्दुस्तान का राजा बन बैठा । वह हिन्दुस्तान का चक्रवर्त्ती राजा कहलाता था । अन्त में सन् ईस्वी से २९८ वर्ष पहिले उसकी मृत्यु होई । तत्पश्चात् उसका पुत्र बिंदुसार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ । पाटलिपुत्र राज्य का विस्तार १५,००,००० वर्गमील था और कहीं कहीं वह १००० मील चौड़ा था । यह उस समय की बात है जब कि इस देश में रेल व तार आदि ने जन्म ग्रहण नहीं किया था । अतः कहना पड़ता है कि चन्द्रगुप्त कोई साधारण मनुष्य नहीं था । वास्तव में इतने बड़े राज्य का उचित प्रबन्ध करना और उसे भविष्य में सब प्रकार से सुरक्षित बनाना बड़े नीतिनिपुण और दूरदर्शी राजा का काम है । इसके समय में राज की नींव इतनी पक्की डाली गई कि दो पीढ़ी तक बिल्कुल नहीं हिलने पाई । प्रत्युत उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई ।

(हितकारिणी)

—:०:—

१७

रुक्मिणी का विवाह

[लल्लूलाल जी के प्रेम सागर से]

श्री शुकदेव मुनि बोले कि—महाराज ! अब कथा सुनिये । जब कालयवन को मार, जरासन्ध को धोखा दे, बलदेव जी को साथ ले श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्द जो द्वारका में गये तो सब यदुवंशियों के जी में जी आया, सारे नगर में सुख छाया, सब चैन आनन्द से पुरवासी रहने लगे । इस में कितने एक दिन पीछे एक दिन कई यदुवंशियों ने राजा उग्रसेन से जा कहा कि—महाराज अब कहीं बलराम जी का विवाह किया चाहिए क्योंकि ये समर्थ हुए । इतनी बात के सुनते ही राजा उग्रसेन ने एक ब्राह्मण को बुलाय अति समझाय के कहा—देवता ! कहीं तुम जाकर अच्छा कुल घर देख, बलराम जी की सगाई कर आओ । इतना कह रोली, अक्षत, रुपया नारियल दे विदा किया । वह चला-चला अनर्तदेश में राजा रैवत के यहां गया और उसकी कन्या रेवती से बलराम जी की सगाई का लग्न ठहराय उसके ब्राह्मण के हाथ टीका लिवाय, द्वारका में महाराज उग्रसेन के पास ले आया और उसने वहां का सब ब्योरा कह सुनाया । सुनते ही राजा उग्रसेन ने अति प्रसन्न हो, उस ब्राह्मण को बुलाया जो टीका ले आया था । मङ्गलाचार करवाया, टीका लिया और उसे बहुत सा धन दे विदा किया । पीछे आप सब यदुवंशियों को साथ बड़ी धूमधाम से अनर्त देश में जाय बलराम जी का ब्याह कर लाये ।

इतनी कथा कह शुकदेव जी ने राजा से कहा कि पृथ्वी-नाथ ! इस रीति से तो यदुवंशी बलदेव जी का विवाह कर लाये और श्रीकृष्णचन्द्र जी आप ही भाई को साथ ले कुण्डलपुर में जाय भीष्मक नरेश की बेटी रुक्मिणी, शिशुपाल की मांग, को राक्षसों से युद्ध करके छीन लाए और उसे घर में लाय ब्याह लिया। यह सुन राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा कि—कृपासिन्धु ! भीष्मकसुता श्री रुक्मिणी को कृष्णचन्द्र कुण्डलपुर में जाय, असुरों को मार, किस रीति से लाये, सो तुम मुझे समझा कर कहो ! श्री शुकदेव जी बोले कि महाराज ! आप मन लाय सुनिये, मैं सब भेद वहां का समझा कर कहता हूं कि विदर्भ देश में कुण्डलपुर नामक एक नगर है। वहां भीष्मक नामक नरेश जिसका यश छाय रहा है चहुं देश, उनके घर में जाय श्री सीता जी ने अवतार लिया। कन्या के आते ही राजा भीष्मक ने ज्योतिषियों को बुला भेजा, जिन्होंने आय लग्न साध- उस लड़की का नाम रुक्मिणी धर कर कहा—महाराज ! हमारे विचार में ऐसा आता है कि यह कन्या अति सुशील स्वभाव, रूपनिधान, गुणों में लक्ष्मी समान होगी और आदि पुरुष से ब्याही जायगी।

इतना बचन ज्योतिषियों के मुख से निकलते ही राजा भीष्मक ने अति सुख मान बड़ा आनन्द किया। बहुत सा धन ब्राह्मणों को दिया। आगे वह लड़की चन्द्रकला की भांति दिन-दिन बढ़ने लगी और बाल-लीला कर माता पिता को सुख देने लगी। इस में कुछ बड़ी हुई तो लगी सखी सहेलियों के साथ अनेक प्रकार के अनूठे अनूठे खेल खेलने। एक दिन वह मृगनैनी, पिकबैनी, चम्पकबरनी चन्द्रमुखी, सखियों के सङ्ग, आंख-मिचौनी खेलने गयी, तो खेल के समय सब सखियां उससे कहने लगीं कि रुक्मिणी ! तू हमारा खेल खोने को आई है; क्योंकि जहां तू हमारे सङ्ग अंधेरे में छिपती हैं तहां तेरे मुखचन्द्र की ज्योति से चांदनी हो जाती है, इस से हम छिप नहीं सकतीं। यह सुन वह हंस कर चुप हो रहीं।

इतनी कथा कह कर श्री शुकदेव जी ने कहा कि महाराज ! इसी भांति वह सखियों के संग खेला करती थी और दिन दिन छबि उसकी दूनी होती थी कि इस बीच एक दिन नारद जी कुण्डलपुर में आए और रुक्मिणी को देख, श्री कृष्णचन्द्र के पास द्वारका में जाय उन्होंने कहा कि महाराज ! कुण्डलपुर में राजा भीष्मक के घर एक कन्या रूप-गुण शील की खान, लक्ष्मी के समान, जन्मी है, सो तुम्हारे योग्य है । यह भेद जब नारद मुनि से सुन पाया तभी से रात दिन हरि ने अपना मन उस पर लगाया । महाराज ! इस रीति करके तो श्री कृष्णचन्द्र ने रुक्मिणी का नाम गुण सुना, और जैसे रुक्मिणी ने प्रभु का नाम यश सुना सो कहता हूं कि एक समय देश देश के कितने एक याचकों ने जाय, कुण्डलपुर में श्री कृष्णचन्द्र का यश गाया, जैसे प्रभु ने मथुरा में जन्म लिया और गोकुल वृन्दावन में जाय ग्वाल बालों के संग मिल बाल-चरित्र किया और असुरों को मार भूमि का भार उतार यदुवंशियों को सुख दिया था, तैसे ही गाय सुनाया । हरि के चरित्र सुनते ही सब नगर निवासी आश्चर्य कर आपस में कहने लगे, जिनकी लीला हमने कानों सुनी तिन्हें कब नैनों देखेंगे । इस बीच याचक किसी ढब से राजा भीष्मक की सभा में जाय प्रभु के चरित्र और गुण गाने लगे । उस काल—

छन्द

चढ़ी अटा रुक्मिणी सुन्दरी, हरि चरित्र धुन स्रवनन परी ।
अचरज करै भूल मन रहै, फेर झलक कर देखन चहै ॥
सुनि के कुंवरि रही मन लाय, प्रेम लता उर उपजी जाय ।
भई मगन विह्वल सुन्दरी, वाकी सुधबुध हरि-गुन हरी ॥

यों कह श्री शुकदेव जी बोले कि—पृथिवीनाथ ! इस भांति श्री रुक्मिणी जी ने प्रभु का यश और नाम सुना तो उसी दिन से रात दिन, आठ

पहर, चौंसठ घड़ी, सोते, जागते, बैठे खड़े, चलते फिरते, खाते पीते, खेलते उन्हीं का ध्यान किए रहे और गुण गाया करे। नित भोर ही उठ स्नान कर मट्टी की गौरी बनाय, रोरी अक्षत पुष्प चढ़ाय, धूप दीप नैवेद्य कर मनाय, हाथ जोड़, सिर नाय, उसके आगे कहा करे।

"मो पर गौरी! कृपा तुम करो।
यदुपति पति दे, मम दुख हरो॥"

इसी रीति से सदा रुक्मिणी रहने लगी। एक दिन सखियों के संग खेलती थी कि राजा भीष्मक उसे देख अपने मन में चिन्ता कर कहने लगा कि अब यह भई ब्याहनजोग, इसे शीघ्र कहीं न दीजे तो हंसेंगे लोग। कहा है कि जिसके घर में कन्या बड़ी होय तिसका दान पुन जप तप करना वृथा है। क्योंकि किये ते तब तक कुछ धर्म नहीं होता जब तक कन्या के ऋण से उऋण न होय। यों विचार राजा भीष्मक अपनी सभा में आय सब मन्त्री और कुटुम्ब के लोगों को बुलाय बोले—भाइयो! कन्या ब्याहने योग्य हुई इसके लिये कुलवान् रूपनिधान, शीलवान् कहीं वर ढूंडना चाहिये।

इतनी बात के सुनते ही उन लोगों ने अनेक अनेक देशों के नरेशों के कुल गुण रूप और पराक्रम कह सुनाये। पर राजा भीष्मक के चित्त में किसी की बात कुछ नहीं आई। तब उनका बड़ा बेटा जिसका नाम रुक्म, सो कहने लगा कि पिता! नगर चेदि का राजा शिशुपाल अति बलवान् है और सब भांति से हमारे समान। तिससे यह रुक्मिणी की सगाई वहां कीजे और जगत् में यश लीजे महाराज! जब उसकी भी बात राजा ने सुनी अनसुनी की तो रुक्मकेश नाम उनका छोटा लड़का बोला—

रुक्मिणी पिता कृष्ण को दीजे, वासुदेव सों सगाई कीजे ॥
यह सुन भीष्मक हरषे गात, कही पूत तैं नीकी बात ॥
तू बालक सब से अति ज्ञानी, तेरी बात भली हम मानी ॥

कहा है;

छोटे बड़ेनि से पूछि कै, कीजे मन परतीत ।
सार वचन गहि लीजिये, यही जगत की रीत ॥

ऐसे कह राजा भीष्मक बोले—यह तो रुक्मकेश ने भली बात कही । यदुवंशियों में राजा सूरसेन बड़े यशस्वी और प्रतापी हुए । तिन्हीं के पुत्र वसुदेव जी हैं सो कैसे हैं कि जिनके घर में श्रीकृष्णचन्द्र ने जन्म ले महाबली कंसादिक राक्षसों को मार और भूमि का भार उतार यदुकुल को उजागर किया और सब यदुवंशियों समेत प्रजा को सुख दिया । ऐसे जो द्वारकानाथ श्री कृष्णचन्द्र जी को रुक्मिणी दें तो जगत में यश और बड़ाई लें । इतनी बात के सुनते ही सब सभा के लोग अति प्रसन्न हो बोले कि—महाराज ! यह तो तुमने भली विचारी । ऐसा वर, घर और कहीं न मिलेगा ! इससे उत्तम यही है कि श्रीकृष्णचन्द्र ही को रुक्मिणी ब्याह दीजे । महाराज जब सब सभा के लोगों ने यों कहा तब राजा भीष्मक का बड़ा बेटा जिस का नाम रुक्म था, सुन निपट झुंझला के बोला—

समझ न बोलत महा गंवार । जानत नहीं कृष्ण व्योहार ॥
सोरह बरस नन्द के रहो । तब अहीर सब काहू कहो ॥
कामरि ओढ़ी गाय चराई । बरहे बैठ छाक तिन खाई ॥

वह तो गंवार ग्वाल है, उस की जाति पांति का क्या ठिकाना है और जिस के मां बाप ही का भेद जाना नहीं जाता, उसे हम पुत्र किसका कहें ? कोई

नन्द गोप का जानता है, कोई वसुदेव का मानता है, पर आज तक यह भेद किसी ने नहीं जाना कि यह कृष्ण किसका बेटा है। उसी से जो जिस के मन में आता है सो गाता है। महाराज! हमें सब कोई जानता मानता है और यदुवंशी राजा कब भये। क्या हुआ जो थोड़े दिनों से बढ़ कर उन्हों ने बड़ाई पाई। पहिला कलङ्क तो अब न छूटेगा। वह उग्रसेन का चाकर कहाता है। उससे सगाई कर हम कुछ संसार में यश पावेंगे? कहा है ब्याह, वैर और प्रीति समान से करिये तो शोभा पाइये और जो श्रीकृष्ण को देंगे तो लोग कहेंगे कि ग्वाला का सारा, जिससे सब जायगा नाम और यश हमारा।

महाराज! यों कह फिर रुक्म बोला कि नगर चेदि का राजा शिशुपाल बड़ा बली और प्रतापी है। उसके डर से सब थर थर कांपते हैं और परम्परा से उनके घर में राजगद्दी चली आती है। इससे अब उत्तम यही है कि रुक्मिणी उसी को दीजे और मेरे आगे फिर कृष्ण का नाम कभी न लीजे। इतनी बात के सुनते ही सभा के लोग मारे डर के मन ही मन अंछता पछता के चुप हो रहे और राजा भीष्मक भी कुछ न बोला। इसमें रुक्म ने ज्योतिषी को बुलाय शुभ दिन लग्न ठहराय एक ब्राह्मण के हाथ राजा शिशुपाल के यहां टीका भेज दिया। वह ब्राह्मण टीका लिये चला चला गनर चेदि में जाय राजा शिशुपाल की सभा में पहुंचा। देखते ही राजा ने प्रणाम कर जब ब्राह्मण से पूछा—कहो देवता! आपका आना कहां से हुआ? और यहां किस मनोरथ से आये? तब तो उस ब्राह्मण ने असीस दे, अपने आने का सब ब्योरा कहा। सुनते ही प्रसन्न हो राजा शिशुपाल ने अपना पुरोहित बुलाय टीका लिया और फिर ब्राह्मण को बहुत कुछ दे विदा किया, पीछे जरासन्ध आदि सब देशों के नरेशों को नौत बुलाया। ये अपना दल ले आये। तब यह भी अपना सब कटक ले ब्याहन चढ़ा। उस ब्राह्मण ने आ राजा भीष्मक से कहा कि जो टीका ले गया था—महाराज मैं शिशुपाल को टीका दे आया। वह बड़ी धूम धाम से बरात ले ब्याहन आता है। आप अपना कार्य कीजे।

यह सुन राजा भीष्मक पहिले तो बहुत उदास हुए पीछे कुछ सोच समझ मन्दिर में जाय कर रानी से कहा—वह सुनकर लगी मङ्गलामुखी नगर और कुटुम्ब की स्त्रियों को बुलाय मङ्गलाचार करवाय व्याह की रीति भांति करने। फिर राजा ने बाहर आ प्रधान और मन्त्रियों को आज्ञा दी कि कन्या के विवाह में हमें जो जो वस्तु चाहिये सो सो इकट्ठी करो। राजा की आज्ञा पाते ही मन्त्री और प्रधानों ने सब वस्तु बात की बात में मंगवाय लाय धरी। लोगों ने देखा सुना तो यह चर्चा नगर में फैली कि—रुक्मिणी का विवाह श्री कृष्णचन्द्र से होना था। सो दुष्ट रुक्म ने न होने दिया। अब शिशुपाल से होगा।

इतनी कथा सुनाय श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा कि पृथिवीनाथ! नगर में तो घर घर यह बात हो रही थी और राज-मन्दिर में नारियां गाय बजाय कर रीति भांति करती थीं। ब्राह्मण वेद पढ़ पढ़ टेहलें करवाते थे, ठौर-ठौर दुन्दुभी बजती थी। बार बार सपल्लव केले के खम्मे गाड़ गाड़ कर सोने के कलश भर-भर लोग धरते थे और तोरण वन्दनवार बांधते थे और एक ओर नगर निवासी न्यारे ही हाट बाट चौहटे झाड़ बुहार पट से पाटते थे। इस भांति घर और बाहर धूम मच रही थी कि उस समय दो चार सखियों ने जो रुक्मिणी से कहा कि—

तोहिं रुक्म शिशुपालहिं दई, अब तू रुक्मिणी रानी भई॥
बोली सोच नाय कर सीस, मन वच मेरे पति जगदीस॥

इतना कह रुक्मिणी ने अति चिन्ता कर एक ब्राह्मण को बुलाया। हाथ जोड़ उसकी बहुत सी विनती और बड़ाई कर अपना मनोरथ उसे सुनाय के कहा कि—महाराज! मेरा संदेशा द्वारका ले जाओ और द्वारकानाथ को सुनाय उन्हें साथ लेकर आओ तो मैं तुम्हारा बड़ा गुण मानूंगी और यह जानूंगी कि आप ने ही दया कर श्रीकृष्ण वर दिया।

इतनी कथा के सुनते ही वह ब्राह्मण बोला अच्छा तुम संदेशा कहो मैं ले जाऊंगा और श्रीकृष्णचन्द्र जी को सुनाऊंगा। वे कृपानाथ हैं। यदि वे कृपा कर मेरे साथ आवेंगे तो ले आऊंगा। इतना वचन जो ब्राह्मण के मुख से निकला त्योंही रुक्मिणी जी ने एक पाती प्रेम रंग राती लिख उस के हाथ दी और कहा कि श्री कृष्णचन्द्र आनन्द कन्द को पाती दे मेरी ओर से कहिये कि उस दासी ने कर जोड़, अति बिनती कर कहा है, जो आप अन्तर्यामी हैं, घट घट को जानते हैं; अधिक क्या कहूंगी, मैंने तुम्हारी शरण ली है, अब मेरी लाज तुम्हें है, जिसमें रहे सो कीजे और इस दासी को आप वेग दर्शन दीजे।

महाराज ! ऐसे कह सुन जब रुक्मिणी ने उस ब्राह्मण को विदा किया तब वह प्रभु का ध्यान कर नाम लेता द्वारका को चला और हरिइच्छा से बात के कहते जा पहुंचा। वहां जाय देखा तो समुद्र के बीच वह पुरी है। जिसके चहुं ओर बड़े २ पर्वत और उपवन शोभा दे रहे हैं। उन में भांति भांति के पशु पत्ती बोल रहे हैं और निर्मल जल भरे सुथरे सरोवर, उनमें कमल डह डहाय रहे हैं, उन पर भौंरों के झुण्ड गूंज रहे हैं और तीर पर हंस, सारस आदि पत्ती कलोलें कर रहे हैं। कोसों तक अनेक प्रकार के फल फूलों की बाड़ियां चली गयी हैं। जिन बाड़ियों पर पनवाड़ी लहलहा रही है। बावड़ी, इन्दारों पर खड़े, मीठे सुरों से गाय गाय, माली रहट परोहे चलाय चलाय ऊंचे नीचे नीर सींच रहे हैं और पनघट पर पनिहारियों के ठट्ठ के ठट्ठ लगे हुए हैं।

यह छवि निरखि हरषि ब्राह्मण जो आगे बढ़ा तो देखता क्या है कि नगर के चारों ओर अति ऊंचा कोट, उसमें चार फाटक, तिन में कञ्चन खचित जड़ाऊ किवाड़ लगे हुए हैं और पुरी के भीतर सोने चांदी के पञ्चखने सतखने मन्दिर, ऊंचे ऐसे कि आकाश से बातें करें, जगमगाय रहे हैं। उनके कलस कलसियां बिजली सी चमकती हैं, वर्ण वर्ण की ध्वजा पताका फहराय रही हैं।

खिड़की, झरोखों, गोखों जालियों से सुगंध की लपटें आय रही हैं। द्वार द्वार सपल्लव केले के खम्भे और कञ्चन कलश भरे धरे हैं। तोरण बन्दनवारें बंधी हुई हैं और घर घर आनन्द के बाजन बाज रहे हैं। ठौर ठौर कथा पुराण और हरि चर्चा हो रही है, अट्ठारह वर्ण के लोग सुख चैन से निवास करते हैं। सुदर्शन चक्र पुरी की रक्षा करता है।

इतनी कथा सुनाय शुकदेव जी बोले—राजा! ऐसी जो सुन्दर सुहावनी द्वारकापुरी, तिसे देखता वह ब्राह्मण राजा उग्रसेन की सभा में जा खड़ा हुआ और असीस देकर वहां इसने पूछा कि श्री कृष्णचन्द्र कहां बिराजते हैं? तब किसी ने उसे हरि का मन्दिर बताय दिया। यह जो द्वार पर जाय खड़ा हुआ तो द्वारपालों ने इसे देख दण्डवत कर पूछा—

"को हो आप कहां ते आये,
कौन देश की पाती लाये।"

यह सुन ब्राह्मण बोला—मैं ब्राह्मण हूं और कुण्डलपुर का रहने वाला हूं, राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी, उस की चिट्ठी श्रीकृष्णचन्द्र को देने आया हूं। इतनी बात के सुनते ही पहरियों ने कहा—महाराज! आप मन्दिर में पधारिये, श्री कृष्णचन्द्र सोंही सिंहासन पर बिराजते हैं। वचन सुन जो ब्राह्मण भीतर गया तो हरि ने देखते ही सिंहासन से उतर दण्डवत कर अति आदर मान किया और फिर सिंहासन पर बिठाय चरण धोय चरणामृत पिया और ऐसी सेवा करने लगे कि जैसे कोई अपने इष्ट की सेवा करे। निदान प्रभु ने सुगन्धि उबटन लगाय नहलाय धुलाय पहिले तो उसे षट्रस भोजन करवाया, पीछे बीड़ा केसर चन्दन से रच रच फूलों की माला पहिराय मणिमय मंदिर में ले जाय एक मुथरे जुड़ाऊ छपर खट पर लिटाया। महाराज वह भी बाट का हारा थका तो था ही, लेटते ही सुख

पाय सो गया। श्रीकृष्ण जी कितनी एक बेर तो उसकी बातें सुनने की अभिलाषा किये वहां बैठे मन ही मन कहते रहे कि अब उठे अब उठे, निदान जब देखा कि नहीं उठा तब आतुर हो उसके पताने बैठ लगे पांव दबाने। इसमें उसकी नींद टूटी तो वह उठ बैठा। तब हरि ने उस को क्षेम कुशल पूंछा।

नीको राज देस तुम तनौ, हम सो भेद कहो आपनौ।
कौन काज यहं आवन भयो, दरस दिखाय हमें सुख दयो॥

ब्राह्मण बोला कि—कृपानिधान! आप चित्त दे सुनिये। मैं अपने आने का कारण कहता हूं कि महाराज कुण्डलपुर के राजा भीष्मक की कन्या ने जब से आप का नाम और गुण सुना है, तभी से वह निशि दिन तुम्हारा ध्यान किए रहती है और कमल चरण की सेवा किया चाहती थी और संयोग भी आय बना था, पर बात बिगड़ गयी। प्रभु बोले क्या?

ब्राह्मण ने कहा—दीन दयाल! एक दिन राजा भीष्मक ने अपने सब कुटुम्ब और सभा के लोगों को बुलाय कहा कि—भाइयो! कन्या ब्याहन योग्य भयी। अब इस के लिये बर ठहराया चाहिए। इतना बचन राजा के मुख से निकलते ही उन्होंने अनेक अनेक राजाओं का कुल गुण नाम और पराक्रम कह सुनाया पर इनके मन में न आया। तब रुक्मकेश ने आपका नाम लिया तो प्रसन्न हो राजा ने उसका कहना मान लिया और सब से कहा कि—भाइयो! मेरे मन में तो इसकी बात पत्थर की लकीर हो चुकी, तुम क्या कहते हो? वे बोले—महाराज! ऐसा वर बर त्रिलोकी में ढूंडियेगा तो भी न पाइयेगा। इस से उचित यह है कि अब विलम्ब न कीजिये। शीघ्र श्रीकृष्णचन्द्र से रुक्मिणी का विवाह कर दीजे। महाराज! यह बात ठहर चुकी थी, इसमें रुक्म ने भांजी मार रुक्मिणी की सगाई शिशुपाल से की, अब वह सब असुर दल ले ब्याहन चढ़ा है।

इतनी कथा सुनाय श्री शुकदेव जी बोले कि-हे पृथ्वीनाथ! ऐसे उस ब्राह्मण ने सब समाचार कह रुक्मिणी की वह चिट्ठी हरि के हाथ दी। प्रभु ने अति हित से पाती ले छाती से लगाय ली और पढ़कर प्रसन्न हो ब्राह्मण से कहा—देवता! तुम किसी बात की चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारे साथ चल असुरों को मार उन का मोरथ पूरा करूंगा। यह सुन ब्राह्मण को धीरज हुआ और हरि रुक्मिणी का ध्यान कर चिन्ता करने लगे।

श्री शुकदेव जी बोले कि हे महाराज! श्री कृष्णचन्द्र ने ऐसा उस ब्राह्मण को ढाढस बंधाया फिर कहा—

जैसे घिस कर काठ ते, काढ़हिं ज्वाला जारि।
तैसे सुन्दरि लाइहौं; दुष्ट असुर दल मारि॥

इतना कह फिर सुथरे वस्त्र आभूषण मन मानते पहन राजा उग्रसेन के पास जाय प्रभु ने हाथ जोड कर कहा—महाराज! कुण्डलपुर के राजा भीष्मक ने अपनी कन्या देने को पत्र लिख पुरोहित के हाथ मुझे अकेले बुलाया है। जो आप आज्ञा दें तो जाऊं और उसकी बेटी व्याह लाऊं।

सुनकर उग्रसेन यों कहे, दूर देश कैसे मन रहे।
वहां अकेले जात मुरारि, मत काहू से उपजे रारि॥

तब तुम्हारे समाचार यहां कौन पहुंचावेगा। यों कहि पुनि उग्रसेन बोले कि अच्छा जो तुम वहां जाना चाहते हो तो अपनी सब सेना ले दोनों भाई जाओ और व्याह कर शीघ्र चले आओ। वहां किसी से लड़ाई झगड़ा न करना क्योंकि तुम चिरंजीव हो तो सुन्दरी बहुत आय रहेंगी। आज्ञा पाते ही श्री कृष्णचन्द्र बोले कि—महाराज! तुम ने सच कहा पर मैं आगे चलता हूं। आप कटक समेत पीछे से बलरामजी को भेज दीजियेगा।

ऐसे कहि हरि उग्रसेन वसुदेव से विदा हो उस ब्राह्मण के निकट आये और रथ समेत अपने दारुक नाम के सारथी को बुलवाया। वह प्रभु की आज्ञा पाते ही चार घोड़े का रथ तुरंत जोत लाया। तब श्रीकृष्णचन्द्र उसपर चढ़े और ब्राह्मण को बिठाल द्वारका से कुण्डलपुर को चले। जो नगर के बाहर निकले तो देखते क्या हैं कि दाहिनी ओर मृग के झुण्ड चले आते हैं और सन्मुख सिंह सिंहनी अपना भक्ष्य ले गरजते आते हैं। यह शुभ शकुन देख ब्राह्मण अपने मन में विचार कर बोला कि महाराज! इस समय इस शकुन के देखने से मेरे विचार में यह आता है कि जैसे यह अपना कार्य साध कर आते हैं तैसे ही तुम भी अपना काज साध कर आओगे। श्रीकृष्णचन्द्र बोले—आप की कृपा से। इतना कह हरि वहां से आगे बढ़े और नए देश नगर गांव देखते देखते कुंडलपुर में जा पहुंचे। तो वहां देखा कि ठौर ठौर जो ब्याह की सीमा संयोग धरी है तिससे नगर की छबि कुछ और हो रही।

"झोर गली चौहटे छावे, चोआ चन्दन सो छिरकावे।
पोय सुपारी झोरा किये, बिच बिच कनक नारियल दिये॥
हरे पात फल फूल अपार, ऐसी घर घर बन्दनवार।
ध्वजा पताका तोरण तरे, सुठव कलश कञ्चन के बने॥"

और घर घर में आनन्द हो रहा है महाराज! यह तो नगर की शोभा थी और राजमन्दिर में जो कुतूहल हो रहा था उसका वर्णन कोई क्या करे, वह देखे ही बन आवे। आगे श्री कृष्ण ने सब नगर देख, आ, राजा भीष्मक की फुलवाड़ी में डेरा किया और शीतल छांह में बैठ ठण्डे हो उस ब्राह्मण से कहा कि—देवता! तुम पहिले हमारे आने का समाचार रुक्मिणी जी को जा सुनाओ, जो वे धीरज धर अपने मन का दुख हरें। पीछे हमें वहां का भेद बताओ जो हम फिर उसका उपाय करें।

ब्राह्मण बोला कृपानिधान! आज ब्याह का पहिला दिन है, राज मन्दिर में बड़ी धूम धाम हो रही है। मैं जाता हूं, पर रुक्मिणी जी को अकेली पाय

आप के आने का भेद कहूंगा। यों सुनाय ब्राह्मण वहां से चला। महाराज ! इधर से तो हरि चुपचाप अकेले पहुंचे और उधर से राजा शिशुपाल जरासन्ध समेत सब असुर दल लिये इस धूम से आया कि जिसका पारावार नहीं, और इतनी भीड़ सङ्ग कर लाया कि जिस के बोझ से लगा शेषनाग डगमगाने और पृथ्वी उथलने। उसके आने की सुधि पाय राजा भीष्मक अपने मन्त्री और कुटुम्बी लोगों के समेत आगू बढ़ आगे लाने गये और बड़े आदर मान से अगोनी कर सब को पहरावनी पहराय रत्न जटित शस्त्र आभूषण और हाथी घोड़े दे उन्हें नगर में ले आये और जनवासा दिया। फिर खाने पीने का सामान किया।

इतनी कथा सुनाय श्री शुकदेवजी मुनि बोले कि—महाराज ! अब मैं अन्तर कथा कहता हूं, आप चित्त लगाय सुनिये कि जब श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका से चले उसी समय सब यदुवंशियों ने जाय राजा उग्रसेन से कहा कि—महाराज ! हमने सुना है कि कुण्डल पुर में राजा शिशुपाल जरासन्ध समेत सब असुर दल से ब्याहन आया है और हरि अकेले गये हैं। इस से हम जानते हैं कि वहां श्री कृष्ण चन्द्र से और उनसे युद्ध होगा। यह बात जान के भी हम अजान हो, हरि को छोड़ हम यहां कैसे रहें, हमारा मन तो मानता नहीं, आगे आप जो आज्ञा करें सो करें।

इस बात को सुनते ही राजा उग्रसेन ने अति भय खाय, घबराय बलराम जी निकट बुलाय समझाय के कहा कि तुम हमारी सब सेना लेकर श्रीकृष्ण के न पहुंचते शीघ्र कुण्डल पुर पहुंचो और उन्हें अपने सङ्ग कर ले आओ; राजा की आज्ञा पाते ही बलराम जी छप्पन करोड़ यादव जोड़ कर कुण्डलपुर को चले। उस काल कटक-हाथी काले धौले धूमरे दल बादल से जान पड़ते थे और उनके श्वेत दांत बगपांति से, धौंसा मेघ सा गरजता था और शस्त्र बिजली से चमकते थे। राते पीते बागे पहने घुड़चढ़ों के टोल के टोल जिधर तिधर दृष्टि आते थे। रथों के तांतों के तांते झमझमाते चले आते थे। इस बीच सब दल लिये चले चले कुण्डलपुर में हरि के पहुंचते ही बलराम जी भी जा पहुंचे।

१८

स्वर्गवासी पिता का पत्र अपने नवयुवक पुत्र के नाम

मेरे बेटे प्यारे ! मेरे मन के दुलारे ! मेरी आंखों के तारे ! मेरे जीवन के सहारे।

ईश्वर तुझे सदा सुखी रक्खे । तेरा जीवन सदा बना रहे । लक्ष्मी और सरस्वती का तू सदा कृपापात्र रहे। बेटा ! तू हैरान होता होगा कि "यह पत्र तो पिता जी की ओर से लिखा प्रतीत होता है, परन्तु यह पत्र उनका क्यों कर हो सकता है ? उनका स्वर्गवास हुए कई वर्ष व्यतीत हो गए हैं। यद्यपि मैं उस समय बालक ही था परन्तु मुझे अच्छी तरह याद है कि जब पिता जी का देहान्त हुआ तो लोगों ने मेरे सामने उन को अग्नि देवता के समर्पण कर दिया। यही नहीं--बल्कि तीसरे दिन उनकी राख को नदी में वहा दिया और फूल चुनकर हरिद्वार भेज दिए। अब पिता जी कहां हैं ! किसी ने मुझे बहकाने के लिए उनके नाम से झूठा पत्र लिख कर भेज दिया है।"

पुत्र ! तेरा यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि केवल भौतिक शरीर ही मनुष्य नहीं कहते । असल मनुष्य तो एक अभौतिक पदार्थ है जिसे न हम आंखों द्वारा देख सकते हैं, न हाथों द्वारा छू सकते हैं और न कानों द्वारा सुन सकते हैं। बहुत क्या कहना, वह इन्द्रियों से अतीत है और इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। एक और बात है; भौतिक या और किसी उपाय

से उसका नाश भी नहीं किया जा सकता, वह सदा अविनाशी है। गीता में लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।
(भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक २३)

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता।"

भौतिक-शरीर तो मनुष्य का एक उपकरण मात्र है। इसके द्वारा मनुष्य अनेक प्रकार के काम करता है हम भूल कर इस भौतिक शरीर को ही मनुष्य मान बैठे हैं।

यह संसार एक बड़ा भारी कारखाना है। इस में अनेक कारीगर अपना २ काम कर रहे हैं और कारखाने के स्वामी ने प्रत्येक कारीगर को उस की शक्ति और काम के अनुसार यथायोग्य उपकरण दे रक्खे हैं। इस संसार रूमी कारखाने का स्वामी ईश्वर है, देहधारी जीव कारीगर हैं। ईश्वर ने प्रत्येक जीव को उचित और योग्य उपकरण दे रक्खा है। जिसे हम शरीर कहते हैं। जिस प्रकार कारीगर का अस्तित्व अपने उपकरण से पृथक् है उमी प्रकार जीवात्मा का अस्तित्व शरीर से पृथक् है। जब कारखाने का स्वामी देखता है कि किसी कारीगर का उपकरण इतना खराब हो गया है कि अब काम नहीं करता, तो वह उसे एक नया उपकरण दे देता है। बस, इसी प्रकार जब ईश्वर देखता है कि किसी जीवात्मा का भौतिक शरीर काम नहीं करता तो वह उसे नया शरीर दे देता है। इसी अभिप्राय को गीता में यों प्रकट किया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

[गीता; अध्याय २, श्लोक २२]

"जैसे पुराने कपड़ों को उतार कर मनुष्य नये कपड़े पहन लेता है। ऐसे ही जीवात्मा जीर्ण शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण कर लेता है।"

जिस प्रकार कारखाने में किसी कारीगर का उपकरण अधिक समय तक काम देता रहता है, किसी का थोड़े समय तक; इसी प्रकार किसी जीव का शरीर अधिक समय तक रहता है, किसी का थोड़े समय तक अर्थात् किसी जीव की आयु दीर्घ और किसी की अल्प होती है। जिस प्रकार अनजान या मूर्ख कारीगर अपने उपकरण को अनुचित प्रयोग या असावधानता से शीघ्र खराब कर लेता है और फिर जब तक उसे नया उपकरण नहीं मिलता उसके काम में बड़ी हानि और कठिनता पड़ती है, इसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञानता से या खोटे कामों से अपने शरीर को शीघ्र खराब कर लेता है तो जब तक उसे नया शरीर नहीं मिलता उसे अपने काम में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है अर्थात् उस की आयु का शेप भाग बड़े कष्ट और दुःख से कटता है ।

हे बेटा ! जब ईश्वर ने देखा कि अब मेरा यह भौति शरीर काम नहीं करता, उसने मुझ से वह शरीर ले लिया और लोगों ने उसे तेरी आंखों के सामने जला डाला, परन्तु तत्काल ही मुझे एक नया शरीर मिल गया जो मानुषिक शरीर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ था। मानुषिक शरीर तो मृन्मय और भारी होता है परन्तु यह नया शरीर जो मुझे मिला प्रकाशमय और हलका था। अतएव हलका होने के कारण मैं ऊपर को उड़ा और स्वर्गद्वार पर पहुंच गया। इस लिए पुत्र ! तू यह मत समझ कि "मेरा पिता सर्वथा नष्ट हो गया है और उसका अस्तित्व नहीं रहा" मैं पूर्ववत् विद्यमान हूं। केवल शरीर बदला है।

अप तू शायद यह कहे कि "पिता जी की आत्मा भले ही नये शरीर में विद्यमान हो परन्तु वे मुझ को अब तक तो अवश्य भूल चुके होंगे।" हे पुत्र ! तेरा यह विचार भी झूठा है। यद्यपि जब मनुष्य का आत्मा अपने शरीर को छोड़ जाता है तो उसे उस जन्म-सम्बन्धी सब बातें भूल जाती हैं, परन्तु मैं तुझे नहीं भूला। मेरा

तेरे साथ विशेप प्रेम था। एक तो तू मेरा सब से छोटा पुत्र था और स्वाभाविकतया माता पिता अपनी छोटी सन्तान को सब से अधिक प्रेम करते हैं। दूसरे तू अभी बालक ही था, कि मेरी मृत्यु हो गई और मैं तुझे विद्यादि देकर अपत्य ऋण नहीं चुका सका था। तीसरे तू इस से पूर्व जन्म में भी मेरा पुत्र था। उसी जन्म में एक पड़ोसी मेरा गहरा मित्र था। उस का एक इकलौता बेटा था जो विद्याध्ययन के लिए विदेश गया हुआ था। वह मेरा मित्र तुझे पुत्र की भांति प्यार करता था। और तू भी उसे पिता के तुल्य समझता था। एक बार वह रोगग्रस्त हुआ। तब तूने उसकी इतनी सेवा की कि लोगों ने तुझे खूब सराहा। निदान वह तो उसी रोग से मर गया। मरकर उसे फिर मानुपिक शरीर प्राप्त हुआ। मरते समय उसके अन्दर यही इच्छा रही कि वह किसी न किसी तरह तेरे इस उपकार और सेवा का बदला चुकावे। चुनांचि अब यह वही पुरुप है जो मेरी प्रेरणा से इस पत्र को लिख रहा है, या यों समझो कि उसकी लेखनी द्वारा मैं ही यह पत्र लिख रहा हूं।

अब शायद तू यह कहे कि "कि पिता जी की आत्मा भी दूसरे शरीर में विद्यमान होगी, वे मुझे प्यार भी करते होंगे और मुझे भूले भी न होंगे परन्तु मेरे नाम यह पत्र लिखने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ गई?"

पुत्र! इसका हाल भी सुन ले। तेरी भी वही दशा हुई है जो प्रायः उन बालकों की होती है जिन के सिर पर से माता पिता का साया उठ जाता है और जो अपने गुरुजन और हितैषी पुरुषों का कहना नहीं मानते अर्थात् वे खोटी संगति में बैठ कर बुरे व्यसनों में पड़ जाते हैं और अपना जीवन नष्ट कर डालते हैं। जब से मेरी मृत्यु हुई है मैं तभी से बराबर तेरा हाल देख रहा हूं। एक पल के लिए भी मैंने अपना ध्यान तेरी ओर से नहीं हटाया। मैंने अपनी आंखों से तेरी सब हिस्टरी देखी है। तू इसे अच्छी तरह जानता है और तुझे सब कुछ याद है। इसका मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है। मुझे अब तक यही आशा रही कि तू जवान होकर खोटी संगति छोड़ देगा और अपने आप को संभाल लेगा,

मेरी यह आशा झूठी निकली। यदि तू अब न संभला फिर कभी न संभल सकेगा। सदा के लिये पछताता रहेगा। मैं तेरे सब साथियों को देख रहा हूं, वे किसी प्रकार इस योग्य नहीं कि तू उनकी संगति में बैठे। वे स्वार्थपर और धूर्त हैं। जिनको तू अपना मित्र समझता है, वे वास्तव में तेरे शत्रु हैं। स्वयं नरक में जा रहे हैं और तुझे भी साथ घसीटते हैं। अब तू सावधान हो जा और उनकी संगति बिलकुल छोड़ दे। जो कुछ पीछे हुआ उसका ख्याल मत कर। भविष्य के लिये अपना प्रोग्राम बना उस पर दृढ़ता से चल, और फिर देख जीवन का आनन्द।

पत्र को समाप्त करने से पहले मैं दो बातें और कहना चाहता हूं। एक तो यह कि मनुष्य जीवन एक प्रकार का निरन्तर संग्राम है जो धर्म और पाप के बीच हो रहा है। धर्म का आधार सत्य और पाप का आधार झूठ है। किसी ने कहा है—

सत्य बराबर धर्म नहीं, झूठ बराबर पाप।
सत्य धर्म का मूल है, झूठ पाप का बाप॥

बाहर से तो धर्म बड़ा रूखा और कड़वा है और पाप कोमल और मीठा, परन्तु इनका अंत विपरीत है। इसीलिये मनुष्य पाप की ओर झुकता है और धर्म से परे भागता है। इसमें संदेह नहीं कि पाप का जाल सर्वत्र फैला हुआ है और वह है भी बड़ा पक्का—ऐसा कि एक बार फंस कर इससे निकलना कठिन है। तथापि मनुष्य का कर्तव्य है कि इस पाप के जाल से दूर रहने की चेष्टा करे और दुर्भाग्य से कहीं फंस जाय तो छूटने का भरसक प्रयत्न करे। मनुष्य पर पाप का जादू तुरंत चल जाता है लेकिन धर्म को हजार उपाय करने पड़ते हैं; तब कहीं मनुष्य इसके निकट आता है। यदि किसी को मिरगी का रोग हो तो वह पानी और दर्पण के सामने नहीं आता क्योंकि वह जानता है कि जहां उसने पानी वा दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा उसे झट मूर्छा आ जायगी।

इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि बुरी संगति से परे रहे क्योंकि बुरी संगति पानी वा दर्पण की भांति है जिसके निकट जाते ही दुर्व्यसन रूपी मिरगी का दौरा आ दबाता है।

दूसरी बात यह है कि तू मेरा हाल सुन ले। स्वर्ग की बाबत तो तू जानता ही है कि इसमें विषय सुख के साधन सदा विद्यमान रहते हैं। जो आत्मा यहां आती है, विषय सुख में मग्न हो जाती है। उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। यहां आयु भी हजारों बरस लम्बी है। रोग और मृत्यु का भय भी नहीं सताता।

जब कोई आत्मा मर्त्यलोक से अपना भौतिक शरीर छोड़ कर यहां आता है तो पहिले उसे द्वार पर ही रोक लिया जाता है ताकि वह अपने सांसारिक सम्बन्ध और चिन्ताएं भूल जाय और स्वर्ग में प्रविष्ट होकर अपनी चिन्ताओं द्वारा दूसरी आत्माओं के रङ्ग में भंग न डालें। इस काम के लिये उसे एक दिन की मोहलत मिलती है (यहां का एक दिन मर्त्यलोक के दस बरस के बराबर है)। बहुत सी आत्माएं तो मिनटों में अपना शोक भूल कर स्वर्ग में प्रवेश कर जाती हैं परन्तु किसी किसी आत्मा को अपने पुराने सम्बन्ध नहीं भूलते और मोहलत का दिन व्यतीत हो जाने पर उसे सदा के लिये स्वर्ग के बाहर द्वार पर ही पड़े रहना पड़ता है। दूसरी आत्माएं उस पर हंसती हैं और मखौल करती हैं कि स्वर्ग में आकर भी उसे मर्त्यलोक के सम्बन्ध नहीं भूले। चूंकि जब से मैं यहां आया हूं मुझे निरन्तर तेरा ध्यान लगा रहा है इसलिये मुझे स्वर्ग में प्रविष्ट नहीं किया गया। मैं अभी तक स्वर्ग के बाहर द्वार पर पड़ा हूं। मेरी मोहलत के दस बरस (यहां का एक दिन) भी गुज़रने वाले हैं, केवल साल डेढ़ साल बाकी है। बस! अगर तू इस काल में अपने आप को सुधार ले और सत्पुरुषों की संगति में बैठने लग जाय और दुर्व्यसनों को छोड़ दे तो मैं तेरी तरफ से निश्चित होकर स्वर्ग में प्रवेश कर सकूंगा, अन्यथा मुझे सारी आयु यहां स्वर्ग

मेरा कहना मान ले। मैं तेरी तरफ से निश्चिन्त हो जाऊं और स्वर्ग में प्रवेश कर जाऊं और तू भी जीवन का आनंद लूटे।

अब तू समझ ले कि मेरे हजारों बरसों के जीवन का आनंद तुझी पर निर्भर है। यदि तू मुझे स्वर्गीय जीवन का आनंद देना चाहता है तो तू खोटा मार्ग त्याग दे। हर्ष की बात है कि मर्त्यलोक में तेरा एक सच्चा हितैषी विद्यमान है। उसके पास जा और सन्मार्ग पर चलना सीख ताकि तू भी सुख से अपना जीवन व्यतीत करे और मुझे भी स्वर्ग का आनन्द प्राप्त हो। बस मेरा यही संदेश है। अगर तू मुझ से प्रेम करता है तो तू मेरे इस उपदेश को ग्रहण कर। इसी में हम दोनों का भला है। यही मेरा पहिला पत्र है और इसी को अंतिम पत्र समझ।

तेरा प्यारा और हितैषी—

"पिता"

(डा० बनारसीदास जैन)

——:०:——

१६

आत्मोत्सर्ग

संसार के विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में सब प्राणियों द्वारा अगणित काम प्रतिदिन नहीं, प्रति घण्टा, प्रति मिनट, यहां तक कि प्रति पल होते रहते हैं। अच्छे कामों के सम्पादन में कुछ विशेष गुणों का परिचय, किसी विशेष दशा में देना ही आत्मोत्सर्ग कहलाता है। अच्छे काम करने में ही आत्मोत्सर्ग करने की विशेष आवश्यकता नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि आत्मोत्सर्ग सुकर्म के लिए ही किया जाता है। आत्मोत्सर्ग करने वाले में साहस का होना आवश्यक है। संसारके सब काम–बड़े अथवा छोटे–बुरे अथवा भले—साहस के बिना नहीं होते हैं। बिना साहस के बड़े कामों का होना तो कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव सा है। संसार के सभी महापुरुष जिन्हों ने बहुत सा विलक्षण खेल इस संसार रूप नाट्य-शाला में दिखला कर इतिहास के पृष्ठों को अपने नाम से सुशोभित किया है, साहसी थे। बिना किसी प्रकार का साहस दिखलाये किसी जाति या देश का इतिहास ही नहीं बन सकता। अपने साहस के कारण ही अर्जुन, भीम, भीष्म, अभिमन्यु इत्यादि आज हमारे हृदयों में जागरूक हैं। आल्पस पर्वत के विशाल शिखरों को पार करने वाले हनीबाल और नैपोलियन का नाम वीरवरों के शुभ नामों के साथ केवल उनके अतुलनीय साहस के कारण ही लिया जाता है। यह साहस ही का प्रभाव था, जिस ने तैमूर ऐसे लंगड़े गडरिये को, बाबर ऐसे सैंकड़ों दफे परास्त किये गये

गये क्षुद्र भूमिपाल को, शिवा जी और क्रामवेल ऐसे सामान्य व्यक्तियों को रणजीतसिंह और संग्रामसिंह ऐसे काने खुतरे को कुछ से कुछ कर दिया। आत्मोत्सर्ग करने वाले मनुष्य का साहसी होना परमावश्यक है, परन्तु साहसी मनुष्य का आत्मोत्सर्गी होना आवश्यक नहीं, क्योंकि केवल साहस ही प्रकट करना आत्मोत्सर्ग नहीं कहलाता। सूर वंश के क्रूरकर्मा बादशाह मुहम्मद आदिल पर भरे दरबार में कितने ही सिरों और धड़ों को धरणी पर गिरा कर एक मुसलमान युवक ने आक्रमण करने का असीम साहस प्रकट किया था। कारण यह था कि बादशाह ने उसके पिता की जागीर ज़ब्त कर ली थी। इसी से उस युवक ने इतने साहस का काम किया। युवक मारा गया। उसके साहस और उसकी निर्भीकता का कुछ ठिकाना है? परन्तु क्रोधान्ध होकर स्वार्थ-वश ऐसा साहस करने से युवक का यह कार्य किसी प्रकार प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का साहस चोर और डाकू भी कभी कभी कर गुज़रते हैं। राजा महाराजा भी अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए कभी २ इससे बढ़कर साहस का काम कर डालते हैं। ऐसा साहस नीच श्रेणी का साहस है। मध्यम श्रेणी का साहस प्रायः शूरवीरों में पाया जाता है। वह उनके उच्च विचार और निर्भीकता को भली भांति प्रकट करता है। इस प्रकार के साहस वाले मनुष्यों में बेपरवाही की और स्वार्थहीनता की कमी नहीं होती; परन्तु उनमें ज्ञान की कमी अवश्य पाई जाती है। अकबर बादशाह के पास दो राजपूत नौकरी के लिये आए। अकबर ने उनसे पूछा कि तुम क्या काम कर सकते हो? वे बोले—जहांपनाह, कर के दिखावें या केवल कह कर।" बादशाह ने करके दिखलाने की आज्ञा दी। राजपूतों ने घोड़ों पर सवार होकर अपने अपने बर्छे सम्भाले और अकबर के सामने ही एक दूसरे पर वार करने लगे। थोड़ी देर बाद वे एक दूसरे पर बेतरह टूट पड़े बादशाह के देखते देखते दोनों घोड़े से नीचे आ रहे और मरकर ठंडे हो रहे। बादशाह पर इस वीरता का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार का साहस निस्सन्देह प्रशंसनीय है; परन्तु ज्ञान की आभा की कमी के कारण निस्तेज सा प्रतीत होता है।

आत्मोत्सर्ग के लिए सर्वोच्च श्रेणी के साहस की आवश्यकता होती है। ऐसे साहस से काम करने के लिए हाथ पैर की बलिष्ठता आवश्यक नहीं; धन, मान इत्यादि का होना भी आवश्यक नहीं।

जिन गुणों का होना आवश्यक है वे हृदय की पवित्रता तथा उदारता और चित्त की दृढ़ता हैं। ऐसे गुणों की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ साहस तब तक पूर्णतया प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें एक और गुण सम्मिलित न हो। इस गुण का नाम कर्तव्य-परायणता है। कर्तव्य के विचार से युक्त होने ही पर साहसी मनुष्य आत्मोत्सर्गी बन सकता है। कर्तव्य का विचार प्रत्येक साहसी मनुष्य में होना चाहिये। इस विचार से शून्य होने पर कोई मनुष्य, फिर चाहे उसके और विचार कैसे ही अच्छे क्यों न हों, मानव जाति की कुछ भी भलाई नहीं कर सकता। अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ मनुष्य कभी भी परोपकार-परायण या समाज-हितचिन्तक नहीं कहा जा सकता। बिना इस विचार के मनुष्य अपने परिवार—नहीं नहीं अपने शरीर अथवा आत्मा तक का कोई उपकार नहीं कर सकता। कर्तव्य-ज्ञान-शून्य मनुष्य को मनुष्य नहीं, पशु समझना चाहिए। अमोत्सर्ग-कर्ता के लिए कर्तव्य-परायण बनना परमावश्यक है। बिना कर्तव्य-परायण हुए मनुष्य आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकता। परन्तु विदित रहे कि कर्तव्य-परायण होना ही आत्मोत्सर्गी होना नहीं है। अत्मोत्सर्गी के हृदय में यह बात अवश्य उत्पन्न होनी चाहिये कि जो कुछ मैंने किया वह केवल अपना कर्तव्य किया। मारवाड़ के मौरूदा गांव का जिमींदार बुद्धनसिंह किसी झगड़े के कारण स्वदेश छोड़ कर जयपुर चला गया और वहीं बस गया। थोड़े ही दिनों के बाद मरहटों ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। यद्यपि बुद्धन मारवाड़ को बिलकुल ही छोड़ चुका था, तथापि शत्रुओं के आक्रमण का समाचार पाकर और मातृ-भूमि को सङ्कट में पड़ा जान कर, उसका रक्त उबल पड़ा। स्वदेश-भक्ति ने उसे बतला दिया कि यह समय ऐसा करने का नहीं है कि तू अपने घरेलू झगड़ों को याद करे। उठ और अपना कर्तव्य पालन कर। इस विचार ने उसे इतना मतवाला कर दिया कि वह अपने

१५० साथियों को लेकर बिना किसी से पूछे जयपुर से तुरन्त चल पड़ा । देश भर में मरहटे फैले हुए थे । उनके बीच से होकर निकल जाना कठिन काम था।

परन्तु बुद्धन के साहस के सामने उस कठिनता को मस्तक झुकाना पड़ा। एक दिन अपने मुट्ठी भर साथियों को लिए वह मरहटों के बीच से निकल ही गया। इस तरह निकल जाने से उसके बहुत से साथी रण-क्षेत्र रूपी अग्नि-कुण्ड में हुत हो गये। जीवित बचे हुओं में बुद्धन सिंह भी था। वह समय पर अपने देश और राजा की सेवा करने के लिए पहुंच गया। इस घटना को हुए बहुत दिन हो गये; परन्तु आज तक वीर राजपूत जाति अपने कर्तव्य-परायण वीर बुद्धन की वीरता को सम्मान पूर्वक याद करती है। राजपूत महिलायें आज भी बुद्धन और उसके वीर साथियों की वीरता के गीत गाकर चंचलों के चित्त को भी गम्भीर और स्तब्ध करती हैं। भौरूदा में आज भी एक स्तम्भ उन वीरों की यादगार में खड़ा हुआ इतिहास वेत्ताओं के हृदय को उत्साहित करता है।

इन गुणों के होने पर भी आत्मोत्सर्ग कहने वाले के लिए स्वार्थत्याग करना भी परमावश्यक है। इस संसार में हजारों ऐसे काम हुए हैं जिनको लोग बड़े उत्साह से करते और सुनते हैं। उन कामों को बहुत अच्छा समझते हैं और उनके करने वाले को सराहते हैं। परन्तु वास्तव में उन कामों में थोड़े ही ऐसे हैं जो स्वार्थ से खाली हों। समय पड़ने पर अपनी जान खेल जाने, अथवा असामान्य साहस प्रकट करने में सदा आत्मोत्सर्ग नहीं होता, क्योंकि बहुधा ऐसे काम करने वाले यशो-लाभ के लोभ से, अपने नाम को कलंकित होने से बचने के इरादे अथवा लूट मार के द्वारा धनोपार्जन करने की इच्छा से, ऐसे मदान्ध हो जाया करते हैं कि वे अपने मतलब के लिये कठिन से कठिन काम में भी संकोच नहीं करते।

आत्मोत्सर्गी व्यक्ति में एक गुप्त शक्ति रहती है, जिसके बल से वह

दूसरे मनुष्य को दुख से बचाने के लिए प्राण तक देने को प्रस्तुत हो जाता है। धर्म, देश, जाति और परिवार वालों ही के लिये नहीं, किन्तु संकट में पड़े हुए एक अपरिचित व्यक्ति के सहायतार्थ भी उसी शक्ति की प्रेरणा से वह सारे संकटों का सामना करने को तैयार हो जाता है। अपने प्राणों की वह लेशमात्र भी परवाह नहीं करता। हर प्रकार के क्लेशों को वह प्रसन्नतापूर्वक सहता है और स्वार्थ के विचारों को वह अपने चित्त में फटकने नहीं देता है। इस संसार में लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो दुर्गुणों में शैतान के भी कान काटते हैं। उनके क्रूर कामों को सुन कर रोमांच हो जाता है। संसार में ऐसे कामों की कुछ कमी नहीं है। ऐसे काम 'कुकर्म' कहलाते हैं। कुकर्म बहुत ही बुरा है। परन्तु बुरी बातों से कभी कभी भलाई भी हो जाती है। यदि सब काम अच्छे होते और कुकर्म का नाम न होता, तो कामों की क़दर ही न होती। इस दशा में वे सब सामान्य काम समझे जाते, कोई किसी को भी अपने से उच्चतर न समझता—सब कृतघ्नता के दास और अभिमान की मूर्ति बन बैठते। परन्तु ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है। उसने संसार को नाट्यशाला बना रक्खा है। उसकी रंगभूमि पर मनुष्यात्मायें नटवत् अपना अपना अच्छा या बुरा खेल दिखला रही हैं। अच्छे बुरे दोनों तरह के काम होते हैं। पर बुरे काम अधिक होते हैं। बुरे कामों की अधिकता ही के कारण हमने अच्छे कामों और उनके करने वालों का सम्मान करना सीखा है। संसार को बुरे कामों ने अन्धकार पूर्ण बना रक्खा है। अच्छे काम उस में लैम्प का काम देते हैं। चन्द्र और तारागण का काम सुकर्म उसी समय दे सकते हैं जब कुकर्मरूपी रात्रि वर्तमान हो। तात्पर्य यह कि कुकर्मों की अधिकता ही के कारण अच्छे काम प्रशंसनीय समझे जाते हैं और अच्छे कामों की असलियत अच्छी तरह प्रकट होने के लिए ही संसार में बुरे कामों का होना आवश्यक है। आत्मोत्सर्ग रूपी सूर्य भी अपने पूर्ण तेज से तभी प्रकट होता है। जब संसार रूपी आकाश कुछ समय तक कुकर्म रूपी काले बादलों से घिरा रह चुका हो। यदि आप आत्मोत्सर्गी बनने के अभिलाषी

हों तो आप को अवसर की राह देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्मोत्सर्ग करने का अवरस प्रत्येक मनुष्य के जीवन में पल पल में आया करता है। देश काल, और कर्तव्य पर विचार कीजिए और स्वार्थ रहित होकर साहस को न छोड़ते हुए कर्तव्य-परायण बनने का प्रयत्न कीजिए।

२०

विलास की फांसी

अङ्गरेजी समाचारपत्रों में इस बात की आलोचना प्रायः देखी जाती है कि आजकल अङ्गरेज अपनी परितृप्ति के लिए पहले से अधिक खर्च करते हैं। उनमें से बहुतों का कथन है कि तनख्वाह और मज़दूरी की दर बेतरह बढ़ जाने पर भी अब जीवनयात्रा निर्वाह करना पहले से कहीं कठिन हो गया है। केवल उनकी भोगस्पृहा ही नहीं बढ़ी है, बल्कि उनकी आडम्बर-प्रियता भी अधिक हो गयी है। केवल इङ्गलैण्ड और वेल्स में प्रतिवर्ष साढ़े तीन लाख से अधिक मनुष्य ऋणपरिशोधन न करने के कारण अदालतों में हाजिर होते हैं। इस ऋण का अधिकांश आडम्बर का ही फल है। अल्प आय वाले पहले सजावट बनावट में जितना व्यय करते थे, आज उससे कहीं अधिक व्यय करते हैं। विशेष कर पोशाक का ऋण चुकाने में ही गृहस्थ फकीर हो रहे है। जो स्त्रियां मोदी की दुकानों में काम करती हैं, छुट्टी के दिनों में उनके कपड़े देखकर लोगों को भ्रम हो जाता है कि ये भले घर की स्त्रियां हैं और ऐसा अक्सर होता भी है। जिन ड्यूकों की जमींदारियों से बहुत बड़ी आमदनी है उनके घर भी खर्चीले नेवते के मारे टोटा हो रहा है, जिनकी आय कम है उनकी तो बात ही नहीं। इससे विवाह की ओर से लोगों का मन हट रहा है और इससे बहुतेरे बुरे फल फल रहे हैं।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि भोग और आडम्बर की तरंगें हमारे देश में भी उठ रही हैं। पर तो भी हमारे यहां का आय का पथ विलायत की अपेक्षा कहीं सङ्कीर्ण है। केवल यही नहीं, देश की उन्नति के लिए जिन आयोजनों की आवश्यकता है वे भी हमारे देश में धन की कमी से पूरे नहीं है।

लोगों से वाहवाही लूटना भी आडम्बर का एक उद्देश है। हम नहीं मान सकते कि वाहवाही लूटने की इच्छा आज कल से पहले कम थी। निस्सन्देह उस समय भी समाज में बड़ाई पाने की इच्छा लोगों में आजकल की तरह प्रबल थी। हां, अन्तर इतना ही है कि प्रसिद्धि का पथ तब एक और था, अब और हो गया है।

उस समय के बड़े आदमी दान पुण्य, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत में खर्च करके नाम कमाते थे। ऐसी भी बात सुनने में आती है कि इसी नाम कमाने के फ़ेर में पड़ कर बहुतेरे धनी गृहस्थ वित्त से बाहर खर्च कर के कङ्गाल हो गये हैं।

किन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस आडम्बर की गति अपनी भोगलालसा-तृप्ति करने की ओर नहीं है वह साधारण तौर से नितान्त असंयत नहीं हो जाता है और सर्वसाधारण में भोग के आदर्श को बढ़ा चढ़ा कर चारों ओर विलास की महामारी की सृष्टि नहीं करता। मान लो, जिस धनी के घर में नित्य अतिथि सेवा होती थी उसका इस सेवा में व्यय चाहे कितना ही अधिक क्यों न हो, पर अतिथि जो भोजन पाते थे—उन में विलासिता का लेश नहीं होता था। विवाहादि कार्यों में बिन-नेवते मेहमानों की रोक टोट नहीं थी सही, पर इससे यज्ञ का बहुत बड़ा सामान होने पर भी वह बड़ा सीधा सादा होता था। इससे साधारण लोगों के चाल चलन में फर्क नहीं पड़ता था।

आजकल व्यक्तिगत भोग का आदर्श बड़ा हो गया है, इस लिए चाह वाही की धारा भी उसी ओर फिर गयी है। अब लोग खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, घर-द्वार, गाड़ी-घोड़े, सरो सामान से अपना बड़प्पन दिखलाते हैं। अमीरों में आजकल इसी बात की होड़ लगी है। इससे केवल उनकी ही चाल नहीं बढ़ रही है। इन बातों से हमारे देश में कितना दुःख बढ़ गया है, यह आलोचना करने से मालूम होगा; क्योंकि हमारी समाज का चलन अब भी बदला नहीं है। यह समाज बहु-सम्बन्ध विशिष्ट है। दूर-निकट, स्वजन-परिजन, अनुचर-परिचर किसी को भी यह समाज अस्वीकार नहीं करती है। अतएव इस समाज के क्रियाकर्म को बड़ा करने के लिए इन्हें सरल करना अत्यावश्यक है। यह न होने से वे मनुष्य के लिए असाध्य हो जायेंगे। यह पहले ही कह चुका हूं कि अब तक हमारे सामाजिक कर्मों में सरलता और विपुलता का सामञ्जस्य था। अब साधारण की चाल ढाल बढ़ गई है, पर तो भी हमारी समाज की परिधि उतनी संकुचित नहीं हुई है। इसी हेतु साधारण लोगों के लिए यह सामाजिक कृत्य दुःसाध्य हो गये हैं।

मैं जानता हूं कि एक मनुष्य तीस रुपये मासिक वेतन पर काम करता था। उसके पिता की मृत्यु के बाद पितृ-वियोग से बढ़ कर श्राद्ध की चिन्ता उसे सताने लगी। मैंने उस से कहा कि "तुम अपनी आय और सामर्थ्य के अनुसार श्राद्ध क्यों नहीं करते ?" उसने कहा "ऐसा नहीं हो सकता।" क्योंकि ग्राम के लोगों और आत्मीय कुटुम्बों के न खिलाने से पीछे उसे आफत में फंसना पड़ेगा। इस दरिद्र पर समाज का दावा ज्यों का त्यों ही है पर साथ ही समाज की क्षुधा बढ़ गयी है। पहले जिस प्रकार के आयोजन से साधारण की तृप्ति होती थी, अब उससे वैसे नहीं होती है। जो क्षमताशाली धनी हैं, वे समाज को ताक पर रख सकते हैं; वे शहरों में जाकर केवल मित्र मण्डली की सहायता से

सामाजिक कार्य कर सकते हैं, पर लक्ष्मी की कृपा नहीं है उनका किसी तरह भी छुटकारा नहीं।

मैं वीरभूम ज़िले के एक किसान के घर टहलने गया था। उस किसान ने अपने बेटे को नौकरी दिला देने के लिए मुझ से कहा। तब मैंने कहा—"तू अपने लड़के को खेती का काम छुड़ाकर पराधीन क्यों बनाना चाहता है?" उसने कहा—"बाबू, एक दिन वह था जब हम खेती से ही सुखी थे, पर अब उससे काम चलता नहीं।" मैंने पूछा,—क्यों?" उसने उत्तर दिया—"हमारी चाल ढाल बदल गयी है। पहले जो नातेदार घर पर आते थे। वे चूड़ागुड़ से ही सन्तुष्ट हो जाते थे, पर अब सन्देश● न पाने से निन्दा करते हैं। हमने जाड़े के दिन दुलाई से ही काटे थे, पर अब विलायती रैपर के बिना लड़के मुंह फुला लेते हैं। हम नंगे पैरों ससुराल गये है, पर अब विलायती जूतों के बिना लड़के लाज से सिर नीचा करते हैं। इसलिये अब केवल खेती से किसानों का काम नहीं चलता।"

कोई कहेंगे कि यह शुभ लक्षण है। अभाव की ताड़ना लोगों को सचेष्ट कर देती है। इससे उनकी सारी क्षमता में विकास लाभ करने की उत्तेजना होती है—कोई यह भी कहेंगे कि बहुसम्बन्धयुक्त समाज व्यक्तित्व को दबा कर नष्ट कर डालती है। अभाव के दबाव में पड़ कर इस समाज के बहुतेरे बन्धनों के ढीले हो जाने से मनुष्य स्वाधीन हो जायंगे। इस से देश का मंगल होगा।

इन सब तर्कों की मीमांसा संक्षेप में नहीं हो सकती है। युरोप में कुछ लोग भोग की सामग्री जुटाकर, अनेकों को मार कर, क्षमताशाली बन जाते हैं। हिन्दू-समाज-तंत्र में कुछ लोगों को कई आदमियों के लिये स्वार्थ-त्याग करने को लाचार कर समाज क्षमताशाली बन जाती है। इन दोनों में भलाई बुराई है। यूरोप की चाल ही यदि श्रेष्ठ सिद्ध होती तो फिर कुछ कहने की बात ही न थी। युरोप के विद्वानों की बातों पर ध्यान देने से जाना जाता है कि इस विषय में उनमें भी मतभेद है।

●एक प्रकार की बंगाली मिठाई जो कच्चे दूध को फाड़कर बनाई जाती है।

चाहे जिस प्रकार से हो, यदि हमारी हिन्दू-समाज की सब गांठें ढीली हो जायें तो यह निश्चय है कि जिस अटल आश्रय में कई हज़ार वर्षों से हिन्दू जाति बहुतेरे आंधी तूफानों को झेलती आ रही है वह नष्ट हो जायगा। इसके साथ में कोई दूसरा आश्रय बन जायगा या नहीं, और बन जाने पर वह हमें कितना सहारा दे सकेगा, यह हमें मालूम नहीं। ऐसी दशा में हमारे पास जो कुछ है उसका विनाश हम निश्चिन्त होकर नहीं देख सकते।

मुसलमानों के साम्राज्य में हिन्दू-जाति की जो कुछ भी क्षति नहीं हुई इसका कारण यह है कि उन दिनों भारतवर्ष का आर्थिक परिवर्तन नहीं हुआ था। भारतवर्ष के रुपये भारतवर्ष में ही रहते थे। बाहर की ओर से अन्न के न खींचे जाने के कारण हमारे यहां अन्न की प्रचुरता थी। इस कारण हमारा सामाजिक व्यवहार सहज ही बहुव्यापक था। उस समय धनोपार्जन की ओर हमारे प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान इस तरह नहीं गया था। उन दिनों समाज में धन की मर्यादा अधिक नहीं थी, और धन ही सब से ऊंची क्षमता नहीं समझा जाता था, और यह बात भी नहीं थी कि धनी वैश्यों ने समाज में उच्च स्थान पर अधिकार कर लिया था। इस कारण धन को श्रेष्ठ आसन देने पर जनसाधारण के मन में जो हीनता आती है वह हमारे देश में नहीं थी।

अब रुपये के विषय में समाज के सभी कोई बेतरह चौकन्ने हो उठे हैं। इस कारण हमारी समाज में भी ऐसी दीनता आगई है। 'रुपया नहीं है' यह कहना सब से बढ़कर लज्जा का विषय हो गया है। इससे धन के आडम्बर की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, लोग क्षमता से अधिक व्यय करते हैं, सभी अपने को धनी सिद्ध करना चाहते हैं। वणिक् जाति ने राज सिंहासन पर बैठ कर हमें धनदासत्व के दारिद्र्य की दीक्षा दी है।

मुसलमान समाज में विलासिता यथेष्ट थी और उस विलासिता ने हिन्दू समाज को बिल्कुल ही स्पर्श नहीं किया है, यह मैं नहीं कह सकता हूं। किन्तु यह विलासिता साधारण लोगों मैं नहीं फैली थी। उस समय विलासिता का नाम नवाबी था। अब विलासिता का नाम बाबूगीरी है और देश में बाबुओं की कमी नहीं है।

इस बाबूपन की होड़ के बढ़ जाने के कारण हम कितनी ओर से कितने दुःख पा रहे हैं, इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका एक दृष्टांत लीजिए। एक ओर समाज के विधान के अनुसार लोग एक विशेष वयस में कन्या दान करने के लिये बाध्य हैं और दूसरी ओर अब पहले की तरह निश्चिन्त चित्त से विवाह करना नहीं बनता। गृहस्थ जीवन का भार सहन करने से युवक डरते हैं। ऐसी दशा में कन्या के विवाह करने के लिए यदि वर को रुपये देकर फुसलाना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है। जीवन-यात्रा के वर्तमान आदर्श के अनुसार रुपये का परिमाण भी बढ़ जाय तो आश्चर्य नहीं। आजकल तिलक लेने की चाल के विरुद्ध आलोचनाएं हो रही हैं; वस्तुतः इस से बंगाली गृहस्थों का तो दुःख अत्यन्त बढ़ गया है, इस विषय में तनिक भी संन्देह नहीं है। आज कल बङ्गाल में ऐसे पिता बहुत ही कम निकलेंगे जो कन्या के विवाह के कारण उद्विग्न न हों। परन्तु उसके लिये हमारी वर्तमान साधारण अवस्था के सिवाय किसी व्यक्ति विशेष पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता है। एक ओर भोग का आदर्श ऊंचा हो जाने से गृहस्थी का खर्च बहुत बढ़ जाने और दूसरी ओर कन्या का विवाह निश्चित वयस में ही करने की लाचारी से वर का मूल्य बिना बढ़े रह नहीं सकता। इस से बढ़ कर लज्जा और अपमान की प्रथा और नहीं है। जीवन का सब से घनिष्ठ सम्बन्ध दुकानदारी से आरम्भ करना, जो आज नहीं, कल से अपना गिना जायगा, उस पर आत्मीयता का अधिकार जमाने के लिए निर्लज्जता से मोल तोल करते रहना आदि जैसी दुःसह नीचता जिस समाज में प्रवेश कर गई है, उसका कभी कल्याण नहीं है, वह निश्चय ही सत्यानाश की राह पर चला है। जो इन बुराइयों को दूर करना

शिक्षित सम्प्रदाय के गले में यह जो नौकरी की फांसी पड़ी है इसका खिंचाव कैसा जान लेने वाला है । इस खिंचाव को हम प्रतिदिन किस तरह बढ़ा रहे हैं ? नवाबी, साहबी और बाबूगीरी को रोज बेतहाशा बढ़ाकर, मन को विलास के अधीन कर, गुलामी के पट्टे की शर्तें और मियाद बढ़ाते चले जाते हैं ।

जीवन-यात्रा को सुलभ करने के साथ ही इस देशव्यापी नौकरी की फांसी एक मूहूर्त्त में ढीली हो जायगी । तब खेतीबाड़ी अथवा और किसी सामान्य व्यवसाय में प्रवृत्त होने में डर नहीं लगेगा । तब इस प्रकार चुपचाप अपमान सहकर पड़ा रहना सहज नहीं होगा ।

हम में विलासिता बढ़ गई है, इससे बहुतेरे लोग कल्पना करते हैं कि यह हमारी धन-वृद्धि का लक्षण है । किंतु यह बात विचार कर देखनी पड़ेगी कि पहले जो धन जन-साधारण के काम में व्यय होता था वह अब व्यक्तिगत भोग में खर्च हो रहा है । इसका फल यही होता है कि देश के भोग विलास के स्थान समृद्धिशाली हो रहे हैं—शहरों में चहल पहल बढ़ रही है; किन्तु छोटे छोटे गांवों में भंख लोट रहा है । सारे बंगाल के गांवों में देव-मन्दिर टूट टूट कर गिर रहे हैं, तालाब का पानी खान पान के अयोग्य हो रहा है, गांव सब जंगल हो रहे हैं और जिस में बारहो मास तीज तेहवारों की धूम रहती थी वहां अब आनन्द का नाम नहीं, सदा सन्नाटा छाया रहता है। देश का अधिकांश धन शहरों में खिंचकर महल, इमारत, घोड़ा-गाड़ी, ठाट-बाट, भोग-विलास आदि में उड़ रहा है; तो भी जो इस प्रकार भोग-विलास और आडम्बर में डूब गए हैं उनमें से प्रायः कोई भी सुखी नहीं है, उनमें से बहुतों को खर्च चलाना बहुत मुश्किल है, बहुतों को ऋण हो गया है और बहुतों का जीवन ऋण दाताओं के पंजे से अपनी बपौती छुड़ाने में नष्ट हो रहा है, बहुतों के लिए कन्या का विवाह करना, पुत्र का लालन-पालन करना, बाप दादाओं का नाम बनाये रखना बहुत ही कठिन हो रहा है। जो धन सारे देश के अभाव-विशेष को दूर करने के लिए चारों ओर फैल

जाता था वही धन संकीर्ण स्थान में बन्द होकर जिस ऐश्वर्य की माया को फैला रहा है वह विश्वास करने के योग्य नहीं है। यदि सारे शरीर के बदले मुख में ही रक्त का संचार हो तो वह स्वास्थ्य की अवस्था नहीं कही जा सकती है! देश के धर्म-स्थान, बन्धु-स्थान और जन्म-स्थान को दुबला करके केवल भोग-स्थान को फुला देने पर ऊपर से मालूम होता है कि देश की श्रीवृद्धि होने लगी। इसी कारण यह छद्मवेशी सर्वनाश ही हमारे लिये अत्यन्त भयावह है। मंगल करने की शक्ति ही धन है, विलास नहीं!

——०:——

२१

राजा हरदौल

बुन्देलखण्ड में 'ओरछा' पुराना राज्य है। इसके राजा बुन्देले हैं। इन बुन्देलों ने पहाड़ों की घाटियों में अपना जीवन बिताया है। एक समय ओरछे के राजा जुझारसिंह थे। बड़े साहसी और बुद्धिमान् थे। शाहजहां उस समय दिल्ली के बादशाह थे। जब शाहजहां लोदी ने बलवा किया और शाही मुल्क को लूटता पाटता ओरछे की ओर आ निकला, तब राजा जुझारसिंह ने उससे मोरचा लिया। राजा के इस काम से गुणग्राही शाहजहां बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरन्त ही राजा को दक्खिन का शासन-भार सौंपा। उस दिन ओरछे में बड़ा आनन्द मनाया गया। शाही दूत खिलत और सनद लेकर राजा के पास आया। जुझारसिंह को बड़े बड़े काम करने का अवसर मिला। सफर की तैयारियां होने लगीं। तब राजा ने अपने छोटे भाई हरदौलसिंह को बुलाकर कहा—"भैया, मैं तो जाता हूं। अब यह राज पाट तुम्हारे सुपुर्द है। तुम भी इसे जी से प्यार करना। न्याय ही राजा का सब से बड़ा सहायक है। न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता, चाहे वह रावण की सेना या इन्द्र का बल लेकर आवे। पर न्याय वही सच्चा है, जिसे प्रजा भी न्याय समझे। तुम्हारा काम केवल न्याय ही करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी

देखाना होगा । और मैं तुम्हें क्या समझाऊं, तुम स्वयं समझदार हो।" यह कह कर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी और हरदौलसिंह के सिर पर रख दी। हरदौल रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया। इसके बाद राजा अपनी रानी से विदा होने के लिए रनवास आए। रानी दरवाज़े पर खड़ी रो रही थी। उन्हें देखते ही पैरों पर गिर पड़ी। जुझारसिंह ने उसे उठाया और मीठे वचनों से समझा कर कहा, यह रोने का समय नहीं है। बुन्देलों की स्त्रियां ऐसे अवसर पर रोया नहीं करतीं। ईश्वर ने चाहा तो हम तुम जल्द मिलेंगे। मुझ पर ऐसी ही प्रीति रखना। मैंने राज पाट हरदौल को सौंपा है, वह अभी लड़का है। उसने अभी दुनिया नहीं देखी है। अपनी सलाहों से उसकी मदद करती रहना।" रानी की ज़बान बन्द हो गई। वह अपने मन में कहने लगी—"हाय! यह कहते हैं, बुन्देलों की स्त्रियां ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं। शायद उनके हृदय नहीं होता, या अगर होता है तो उनमें प्रेम न होगा।" रानी कलेजे पर पत्थर रख कर आंसू पी गई और हाथ जोड़कर राजा की ओर मुसकराती हुई देखने लगी। पर क्या वह मुसकराहट थी? जिस तरह अन्धेरे मैदान में मशाल की रोशनी अन्धेरे को और भी अथाह कर देती है उसी तरह रानी की मुसकराहट उसके मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी।

जुझारसिंह के चले जाने के बाद हरदौलसिंह राज करने लगा। थोड़े ही दिनों में उसके न्याय और प्रजावात्सल्य ने प्रजा का मन हर लिया। लोग जुझारसिंह को भूल गए। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी, पर हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र थे। वह ऐसा हंसमुख और मधुरभाषी था कि उससे जो ही दो बातें कर लेता, वही जीवन भर उसका भक्त बना रहता। राज भर में ऐसा कोई नहीं था, जो उसके पास तक न पहुंच सकता हो। रात दिन उसके दरबार का फाटक सब के लिए खुला रहता था। ओरछे को कभी ऐसा सर्वप्रिय राजा नसीब न हुआ था। वह उदार था, न्यायी था, विद्या और गुण का ग्राहक था। पर सब से बड़ा गुण जो उसमें था वह

उसकी वीरता थी। उसका यह गुण हद दर्जे को पहुंच गया था। जिस जाति के जीवन का अवलम्बन तलवार पर है वह अपने राजा के किसी गुण पर इतना नहीं रीझती जितना उसकी वीरता पर। हरदौल अपने गुणों से अपनी प्रजा के मन का भी राजा हो गया, जो मुल्क और माल पर राज करने से भी कठिन है। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। उधर दक्खिन में जुझारसिंह ने अपने प्रबन्ध से चारों ओर शाही दबदबा जमा-लिया। इधर ओरछे में हरदौल ने प्रजा पर मोहनी मन्त्र फूंक दिया।

(२)

फाल्गुन का महीना था, अबीर और गुलाल से ज़मीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था। रबी ने खेतों में सुनहला फ़र्श बिछा रक्खा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिये थे। सन्तोष इस सुनहले फ़र्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिन्तता इस सुनहले महल में तानें अलाप रही थी। इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फेंकैत क़ादिरखां ओरछे आया। बड़े-बड़े बलवान उसका लोहा मान गये थे। दिल्ली से ओरछे तक सैकड़ों मर्दानगी के मद से मतवाले उसके सामने आये, पर कोई उस से जीत न सका। उससे लड़ना भाग्य से नहीं बल्कि मौत से लड़ना था। वह किसी इनाम का भूखा न था, जैसा ही दिल का दिलेर था, वैसे ही मन का राजा था। ठीक होली के दिन उसने धूमधाम से ओरछे में सूचना दी कि "खुदा का शेर, दिल्ली का क़ादिरखां ओरछे आ पहुंचा है। जिसे अपनी जान भारी हो, आकर अपने भाग्य का निपटेरा करले"। ओरछे के बड़े बड़े बुन्देले सूरमा घमण्ड भरी वाणी सुनकर गरम हो उठे। फाग और डफ़ की तान के बदले ढाल की वीरध्वनि सुनाई देने लगी। हरदौल का अखाड़ा ओरछे के पहलवानों और फेंकैतों का सब से बड़ा अड्डा था। सन्ध्या को यहां सारे शहर के सूरमा जमा हुए। कालदेव और भालदेव बुन्देलों की नाक थे, सैंकड़ों मैदान मारे हुए यह दोनों पहलवान क़ादिरखां का घमण्ड चूर करने के लिए चुने गये।

दूसरे दिन किले के सामने तालाब के किनारे बड़े मैदान में ओरछे के छोटे बड़े सभी जमा हुए। कैसे कैसे सजीले अलबेले जवान थे—सिर पर खुशरंग बांकी पगड़ी, माथे पर चन्दन का तिलक, आंखों में मर्दानगी का सरूर, कमर में तलवार; और कैसे कैसे बूढ़े थे,—तनी हुई मूंछें, सिर पर तिरछी पगड़ी, कानों से बन्धी हुई दाढ़ियां, देखने में तो बूढ़े पर काम में जवान, किसी को कुछ न समझने वाले। उनकी मर्यादा, चाल-ढाल नौजवानों को लजाती थी। हर एक के मुंह से वीरता की बातें निकल रही थीं। नौजवान कहते थे—देखें आज ओरछे की लाज रहती है या नहीं। पर बूढ़े कहते—ओरछे की हार कभी नहीं हुई और न होगी। वीरों का यह जोश देखकर राजा हरदौल ने बड़े जोर से कह दिया था—"खबरदार, बुन्देलों की लाज रहे, या न रहे पर उनकी प्रतिष्ठा में बल न पड़ने पावे। यदि किसी ने औरों को यह कहने का अवसर दिया कि ओरछे वाले तलवार से न जीत सके तो धांधली कर बैठे, वह अपने को जाति का शत्रु समझे।"

सूर्य निकल आया था। एकाएक नगाड़े पर चोब पड़ी और आशा तथा भय ने लोगों के मन को उछाल कर मुंह तक पहुंचा दिया। कालदेव और कादिरखां दोनों लंगोटा कसे शेरों की तरह अखाड़े में उतरे और गले मिल गये। तब दोनों तरफ से तलवारें निकलीं और दोनों बगलों में चली गईं। फिर बादल के दो टुकड़ों से बिजलियां निकलने लगीं। पूरे तीन घण्टे तक यही मालूम होता था कि दो अंगारे हैं। हजारों आदमी खड़े तमाशा देख रहे थे और मैदान में आधी रात का सन्नाटा छाया हुआ था। हां जब कभी कालदेव कोई गिरहदार हाथ चलाता या कोई पेंचदार वार बचा जाता, तो लोगों की गर्दनें आप ही आप उठ जातीं; पर किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलता था। अखाड़े के अन्दर तलवारों की खींचतान थ; पर देखने वालों के लिए अखाड़े के बाहर मैदान में इससे भी बढ़कर तमाशा था। बार बार जातीय प्रतिष्ठा के विचार से मन के भावों को रोकना और प्रसन्नता या दुःख का शब्द मुंह से बाहर न निकलने देना

तलवारों के वार बचाने से अधिक कठिन काम था। एकाएक कादिरखां 'अल्लाहो अकबर' चिल्लाया, मानों बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी।

कालदेव के गिरते ही बुन्देलों को सब्र न रहा। हर एक चेहरे पर निर्बल क्रोध और कुचले हुए घमण्डी की तसवीर खिंच गई। हजारों आदमी जोश में आकर अखाड़े पर दौड़े, पर हरदौल ने कहा—"खबरदार! अब कोई आगे न बढ़े।" इस आवाज ने पैरों के साथ जंजीर का काम किया। दर्शकों को रोक कर जब वे अखाड़े में आगए और कालदेव को देखा तो आंखों में आंसू भर आये। जखमी शेर जमीन पर पड़ा तड़प रहा था। उसके जीवन की तरह उसकी तलवार के दो टुकड़े हो गए थे।

आज का दिन बीता। रात आई पर बुन्देलों की आंखों में नींद कहां! लोगों ने करवटें बदलकर रात काटी। जैसे दुःखित मनुष्य विकलता से सुबह की बाट जोहता है, उसी तरह बुन्देले रह रहकर आकाश की तरफ देखते और उसकी धीमी चाल पर झुंझलाते थे। उनके जातीय घमण्ड पर गहरा घाव लगा था। ज्योंही सूर्य निकला, तीन लाख बुन्देले तालाब के किनारे पहुंचे। जिस समय भालदेव शेर की तरह अखाड़े की तरफ चला, दिलों में धड़कन सी होने लगी। कल जब कालदेव अखाड़े में उतरा था बुन्देलों के हौसले बढ़े हुए थे, पर आज वह बात न थी। हृदयों में आशा की जगह डर घुसा हुआ था। जब कादिरखां कोई चुटीला वार करता तो लोगों के दिल उछल कर होठों तक आ जाते। सूर्य सिर पर चढ़ा आता था और लोगों के दिल बैठे जाते थे। इस में कोई सन्देह नहीं कि भालदेव अपने भाई से फुर्तीला और तेज था। उसने कई बार क़ादिरखां को नीचा दिखाया, पर दिल्ली का निपुण पहलवान हर बार संभल जाता था। पूरे तीन घंटे तक दोनों बहादुरों में तलवारें चलती रहीं। एकाएक खट्टाके की आवाज़ हुई और भालदेव की तलवार के दो टुकड़े हो गये। राजा हरदौल अखाड़े के

सामने खड़े थे। उन्होंने भलदेव की तरफ तेजी से अपनी तलवार फेंकी भालदेव तलवार लेने के लिये झुका ही था कि कादिरखां की तलवार उसकी गर्दन पर आ पड़ी। घाव गहरा न था केवल एक 'चरका' था, पर उसने लड़ाई का फैसला कर दिया।

हताश बुन्देले अपने अपने घरों को लौटे। यद्यपि भालदेव अब भी लड़ने को तैयार थे पर हरदौल ने समझा कर कहा कि "भैया हमारी हार उसी समय हो गई जब हमारी तलवार ने जवाब दे दिया। यदि हम कादिरखां की जगह होते तो निहत्थे आदमी पर वार न करते और जब तक हमारे शत्रु के हाथ में तलवार न आ जाती हम उस पर हाथ न उठाते। कादिरखां में यह उदारता कहां? बलवान् शत्रु का सामना करने में उदारता को ताक़ पर रख देना पड़ता है। तो भी हमने दिखा दिया है कि तलवार की लड़ाई में हम उसके बराबर हैं। और अब हम को यह दिखाना रहा है कि हमारी तलवार में भी वैसा ही जौहर है।" इसी तरह लोगों को तसल्ली देकर राजा हरदौल रनवास को गये।

कुलीना ने पूछा—"लाला! आज दङ्गल का क्या रङ्ग रहा?"

हरदौल ने सिर झुका कर जवाब दिया—"आज भी वही कल सा हाल रहा"।

कुलीना—"क्या भालदेव मारा गया।"

हरदौल—"नहीं, जान से तो नहीं, पर हार हो गई।"

कुलीना—"तो अब क्या करना होगा?"

हरदौल—"मैं स्वयं इसी सोच में हूं। आज तक ओरछे को कभी नीचा न देखना पड़ा था। हमारे पास धन न था पर अपनी वीरता के सामने हम राजा

और धन को कोई चीज़ न समझते थे। अब हम किस मुंह से अपनी वीरता का घमण्ड करेंगे—ओरछे की और बुन्देलों की लाज अब जाती है।

कुलीना—क्या अब कोई आस नहीं है ?

हरदौल—हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है जो उससे बाज़ी ले जाये। भालदेव की हार ने बुन्देलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैंकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ जिससे हमारा मान था अब अन्तिम सांस ले रही है। भालदेव हमारा उस्ताद था, उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्ठता हैं, पर बुन्देलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसी के साथ जायगा। कादिरखां बेशक अपने हुनर में एक ही है पर हमारा भालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि भालदेव के हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो कादिरखां की तलवार का मुंह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अन्तिम चेष्टा होगी। यदि इस बार भी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।

कुलीना सोचने लगी,तलवार इनको दूं या न दूं। राजा रोक गये हैं। उनकी आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाईं भी उस पर न पड़ने पाये। क्या ऐसी दशा में उनकी आज्ञा का उलङ्घन करूं तो वे नाराज़ होंगे। कभी नहीं। जब वे सुनेंगे कि मैंने कैसे कठिन समय में तलवार निकाली है तो उन्हें सच्ची प्रसन्नता होगी। बुन्देलों की आन किसको इतनी प्यारी है ? उनसे ज्यादा ओरछे की भलाई चाहने वाला कौन होगा ? इस समय उनकी आज्ञा उल्लङ्घन करना ही आज्ञा मानना है। यह सोच कर कुलीना ने तलवार हरदौल को दे दी।

सवेरा होते ही यह खबर फैल गई की राजा हरदौल कादिरखां से लड़ने जा रहे हैं। इतना सुनते ही लोगों में सनसनी सी फैल गई और वे चौंक उठे।

लों की तरह लोग अखाड़े की ओर दौड़े। हर एक आदमी कहता था कि जब हम जीते हैं हम महाराज को लड़ने नहीं देंगे। पर जब लोग अखाड़े के पास थे तो देखा कि अखाड़े में बिजलियां सी चमक रही हैं। बुन्देलों के दिलों उस समय जैसी बीत रही थी, उसका अनुमान करना कठिन है। उस समय त लम्बे चौड़े मैदान में जहां तक निगाह जाती थी आदमी ही आदमी जर आते थे। पर चारों तरफ सन्नाटा था। हर एक आंख अखाड़े की तरफ ागी हुई थी और हर एक का दिल हरदौल की मङ्गल-कामना के लिये ईश्वर का ार्थी था। क़ादिरखां का एक एक वार हजारों दिलों के टुकड़े कर देता था और हरदौल की एक एक काट से मनों में आनन्द की लहरें उठती थीं। अखाड़े में दो पहलवानों का सामना था और अखाड़े के बाहर 'आशा और निराशा' का। आखिर घड़ियाल ने पहला पहर बजाया और हरदौल की तलवार बिजली बन कर कादिर के सिर पर गिरी। यह देख बुन्देले मारे आनन्द के उन्मत्त हो गये। किसी को किसी की सुध न रही। कोई किसी से गले मिलता, कोई उछलता और कोई छलांगें मारता था। हज़ारों आदमियों पर वीरता का नशा छा गया। तलवारें स्वयं म्यान से निकल पड़ीं, भाले चमकने लगे। जीत की खुशी में सैंकड़ों जानें भेंट की गईं। पर जब हरदौल अखाड़े से बाहर आये और उन्होंने बुन्देलों की ओर तेज़ निगाहों से देखा तो आन की आन में लोग संभल गये। तलवारें म्यानों में छिपीं। ख़्याल आया। यह खुशी क्यों, यह उमङ्ग क्यों, और यह पागलपन किस लिये? बुन्देलों के लिये यह कोई नई बात नहीं हुई। इस विचार ने लोगों का दिल ठंडा कर दिया। हरदौल की इस वीरता ने उसे हर एक बुन्देले के दिल में मान-प्रतिष्ठा की उस ऊंची जगह पर जा बिठाया जहां न्याय और

उदारता भी उसे न पहुंचा सकती थी। वह पहले ही से सर्व-प्रिय था, और अब वह अपनी जाति का वीरवर और बुन्देला-दिलावरी का सिरमौर बन गया।

राजा जुझारसिंह ने भी दक्षिण में अपनी योग्यता का परिचय दिया। वे केवल लड़ाई में ही वीर न थे, बल्कि राज्य शासन में भी अद्वितीय थे। उन्होंने अपने सुप्रबन्ध से दक्षिण प्रान्त को बलवान् राज्य बना दिया और वर्ष भर के बाद बादशाह से आज्ञा लेकर वे ओरछे की तरफ चले। ओरछे की याद उन्हें सदैव बेचैन करती रही। आह ओरछा! वह दिन कब आवेगा कि फिर तेरे दर्शन होंगे? राजा मंजिलें मारते चले आते थे, न भूख थी न प्यास, ओरछे वालों की मुहब्बत खींचे लिये आती थी। यहां तक कि ओरछे के जङ्गलों में आ पहुंचे। साथ के आदमी पीछे छूट गए। दोपहर का समय था। धूप तेज थी। वे घोड़े से उतरे और पेड़ की छांह में जा बैठे। भाग्यवश आज हरदौल भी जीत की खुशी में शिकार खेलने निकले थे। सैंकड़ों बुन्देला सरदार उनके साथ थे। सब अभिमान के नशे में चूर थे। उन्होंने राजा जुझारसिंह को अकेले बैठे देखा पर वे अपने घमण्ड में इतने डूबे हुए थे कि उनके पास तक न आये। समझा, कोई यात्री होगा। हरदौल की आंखों ने भी धोखा खाया, वे घोड़े पर सवार अकड़ते हुए जुझारसिंह के सामने आये और पूछना चाहते थे कि तुम कौन हो कि भाई से आंख मिल गई। पहचानते ही घोड़े पर से कूद पड़े और उनको प्रणाम किया। राजा ने भी उठ कर छाती से लगाया। पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्षा ने घेर ली थी, और केवल इसी लिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ न दौड़ा। उसके सवारों ने दूर ही से उनकी अभ्यर्थना न की। सन्ध्या होते होते दोनों भाई ओरछे पहुंचे। राजा के लौटने का समाचार पाते ही नगर में प्रसन्नता की दुन्दुभी बजने लगी। हर जगह आनन्दोत्सव होने लगा और तुरत फुरत सारा शहर जगमगा उठा। आज रानी कुलीना ने अपने हाथों से भोजन बनाया। नौ बजे होंगे, लौंडी ने आकर कहा—महाराज भोजन

तैयार है। दोनों भाई भोजन करने गए। सोने के थाल में राजा के लिये भोजन परोसा गया और चांदी के हाथ में हरदौल के लिये। कुलीना ने स्वयं थाल परोसे थे, और स्वयं ही सामने लाई थी पर दिनों का चक्र कहो या भाग्य का दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चांदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया। वह वर्ष भर सोने के थाल में खाते खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तलमला गए। जबान से कुछ न बोले, पर तीवर बदल गए और मुंह लाल हो गया। रानी की तरफ घूर कर देखा और भोजन करने लगे, पर ग्रास विष मालूम होता था। दो चार ग्रास खाकर उठ आये। रानी उनके तीवर देखकर डर गई। आज कैसे प्रेम से उसने भोजन बनाया था, कितनी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन आया था, उसके उल्लास का कोई पारावार न था। पर राजा के तीवर देखकर उसके प्राण सूख गए। जब राजा उठ गए और उसने थाल को देखा तो कलेजा धक से हो गया और पैर तले से मिट्टी निकल गई। उसने सिर पीट लिया। ईश्वर! आज रात कुशल पूर्वक कटे, मुझे शकुन अच्छे दिखाई नहीं देते।

राजा जुझारसिंह शीशमहल में जा लेटे। चतुर नाइन ने रानी का शृङ्गार किया और वह मुसकराकर बोली,—"कल महाराज से इसका इनाम लूंगी।" यह कह कर वह चली गई। परन्तु कुलीना वहां से न उठी। वह गहरे सोच में पड़ी हुई थी। उनके सामने कौन सा मुंह लेकर जाऊंगी। नाइन ने नाहक मेरा शृङ्गार किया। मेरा शृङ्गार देखकर वे खुश भी होंगे? मुझ से इस समय अपराध हुआ है, मैं अपराधिनी हूं, मेरा उनके पास इस समय बनाव शृङ्गार करके जाना उचित नहीं। नहीं! आज उनके पास भिखारिनी के भेस में जाना चाहिए। मैं उनसे क्षमा-दान मांगूंगी। इस समय मेरे लिए यही उचित है। यह सोच कर रानी बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गई। वह अप्सरा सी मालूम होती थी। सुन्दरता की कितनी ही

तसवीरें उसने देखी थीं, पर उसे इस शीशे की तसवीर सब से ज्यादा खूबसूरत मामूल होती थी।

सुन्दरता और आत्मरुचि का साथ है। हल्दी बिना रंग के नहीं रह सकती। थोड़ी देर के लिए कुलीना सुन्दरता के मद में फूल उठी। वह तन कर खड़ी हो गई। लोग कहते हैं कि सुन्दरता में जादू है, वह जादू जिसका कोई उतार नहीं। धर्म और कर्म, तन और मन, सब सुन्दरता पर न्योछावर हैं। मैं सुन्दर न सही, ऐसी कुरूपा भी नहीं हूं। क्या मेरी सुन्दरता में इतनी भी शक्ति नहीं है कि महाराज से मेरा अपराध क्षमा करा सके? ये बाहुलतायें जिस समय उनके गले का हार होंगी, ये आंखें जिस समय प्रेम के मद से लाल होकर देखेंगी तब क्या मेरे सौंदर्य की शीतलता उनकी क्रोधाग्नि को ठण्डा न कर देगी? पर थोड़ी देर में रानी को ज्ञान हुआ। आह! यह मैं क्या स्वप्न देख रही हूं। मेरे मन में ऐसी बातें क्यों आती हैं? मैं अच्छी हूं या बुरी हूं! उनकी चेरी हूं! मुझ से अपराध हुआ है, मुझे उनसे क्षमा मांगनी चाहिये। यह शृङ्गार और बनाव इस समय उपयुक्त नहीं है। यह सोच कर रानी ने सब गहने उतार दिये। इतर में बसी हुई हरे रेशम की साड़ी अलग कर दी। मोतियों से भरी मांग खोल दी। और खूब फूट फूट कर रोई। हाय यह मिलाप की रात वियोग की रात से भी विशेष दुखदायिनी है। भिखारिनी का भेस बना कर रानी शीशमहल की ओर चली। पैर आगे बढ़ते थे पर मन पीछे हटा जाता था। दरवाजे तक आई; पर भीतर पैर न रख सकी। दिल धड़कने लगा। ऐसा जान पड़ा मानों उस के पैर थर्रा रहे हैं। राजा जुझारसिंह बोले—"कौन है?—कुलीना! भीतर क्यों नहीं आ जाती?"

कुलीना ने जी कड़ा करके कहा—"महाराज! कैसे आऊं? मैं अपनी जगह क्रोध को बैठा हुआ पाती हूं।"

राजा—"यह क्यों नहीं कहती कि मन दोषी है, इसलिये आंखें नहीं मिलने देता ?"

कुलीना—"निस्सन्देह मुझ से अपराध हुआ है, पर एक अबला आप से क्षमा का दान मांगती है।"

राजा—"इसका प्रायश्चित्त करना होगा।"

कुलीना—"क्यों कर ?"

राजा—"हरदौल के खून से।"

कुलीना सिर से पैर तक कांप गई। बोली—"क्या इसलिए कि आज मेरी भूल से ज्योनार के थालों में उलट फेर हो गया ?"

राजा—"नहीं, इसलिए कि हरदौल ने तुम्हारे प्रेम में उलट फेर कर दिया है।"

जैसे आग की आंच से लोहा लाल हो जाता है वैसे ही रानी का मुंह लाल हो गया। क्रोध की अग्नि सद्भावों को भस्म कर देती है। प्रेम और प्रतिष्ठा, दया और न्याय, सब जल के राख हो जाते हैं। एक मिनट तक रानी को ऐसा मालूम हुआ, मानों दिल और दिमाग दोनों खौल रहे हैं। पर अपने आत्म-दमन की अन्तिम चेष्टा से अपने को संभाला, केवल इतना बोली—"हरदौल को मैं अपना लड़का और भाई समझती हूं।"

राजा उठ बैठे और कुछ नर्म स्वर से बोले—"नहीं, हरदौल लड़का नहीं है, लड़का मैं हूं जिसने तुम्हारे ऊपर विश्वास किया। कुलीना मुझे तुम से ऐसी आशा न थी। मुझे तुम्हारे ऊपर घमंड था। मैं समझता था चांद सूरज

टल सकते हैं, पर तुम्हारा दिल नहीं टल सकता। पर आज मुझे मालूम हुआ कि यह मेरा लड़कपन था। बड़ों ने सच कहा है "स्त्री का प्रेम पानी की धार है, जिस ओर ढाल पाता है, उधर ही ढल जाता है।"—सोना ज्यादा गर्म होकर पिघल जाता है। कुलीना रोने लगी। क्रोध की आग पानी बन कर आंखों से निकल पड़ी। जब आवाज़ बस में हुई, तो बोली—"मैं आप के इस सन्देह को कैसे दूर करूं ?"

राजा—"हरदौल के खून से।"

रानी—"मेरे खून से दाग न मिटेगा ?"

राजा—"तुम्हारे खून से पक्का हो जायगा।"

रानी—"और कोई उपाय नहीं है ?"

राजा—"नहीं।"

रानी—"यह आपका अन्तिम विचार है ?"

राजा—"हां, यह मेरा अन्तिम विचार है। देखो, इस पानदान में पान का बीड़ा रक्खा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को इसे अपने हाथ से खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा, जब इस घर से हरदौल की लाश निकलेगी।"

रानी ने घृणा की दृष्टि से पान के बीड़े को देखा और उलटे पैर लौट आई।

रानी सोचने लगी क्या हरदौल के प्राण लूं ? निर्दोष सच्चरित्र वीर हरदौल की जान से अपने सतीत्व की परीक्षा दूं ? उस हरदौल के खून से अपना

हाथ काला करूं जो मुझे बहन समझता है ? यह पाप किस के सिर पड़ेगा ? क्या एक निर्दोष का खून रंग न लायेगा ! आह ! अभागी कुलीना ! तुझे आज अपने सतीत्व की परीक्षा देने की आवश्यकता पड़ी है और वह ऐसी कठिन ! नहीं, यह पाप मुझ से न होगा । यदि राजा मुझे कुलटा समझते हैं तो समझें, उन्हें मुझ पर सन्देह है तो हो । मुझ से यह पाप न होगा । राजा को ऐसा सन्देह क्यों हुआ ? क्या केवल थालों के बदल जाने से ? नहीं, अवश्य कोई और बात है । आज हरदौल उन्हें जंगल में मिल गया था । राजा ने उस की कमर में तलवार देखी होगी । क्या आश्चर्य है; हरदौल से कोई अपमान भी हो गया हो । मेरा अपराध क्या है ? मुझ पर इतना बड़ा दोष क्यों लगाया जाता है ? केवल थाली के बदले जाने से ? हे ईश्वर ! किस से अपना दुःख कहूं ? तू ही मेरा साक्षी है । जो चाहे सो हो, पर मुझ से यह पाप न होगा ।

रानी ने फिर सोचा,—"राजा ! क्या तुम्हारा हृदय ऐसा ओछा और नीच है ? तुम मुझ से हरदौल की जान लेने को कहते हो ? यदि तुम से उसका अधिकार और मान नहीं देखा जाता तो क्यों साफ साफ ऐसा नहीं कहते ? क्यों मरदों की लड़ाई नहीं लड़ते ! क्यों स्वयं अपने हाथ से उसका सिर नहीं काटते ! मुझ से यह काम करने को कहते हो । तुम खूब जानते हो, मैं नहीं कर सकती । यदि मुझ से तुम्हारा जी उकता गया है, यदि मैं तुम्हारी जान की जंजाल हो गई हूं तो मुझे काशी या मथुरा भेज दो । मैं बेखटके चली जाऊंगी पर ईश्वर के लिये मेरे सिर इतना बड़ा कलङ्क न लगने दो । पर मैं जीवित ही क्यों रहूं ! मेरे लिये अब जीवन में कोई सुख नहीं है । अब मेरा मरना ही अच्छा है । मैं स्वयं प्राण दे दूंगी, पर यह महापाप मुझ से न होगा। विचारों ने फिर पलटा खाया । तुम को यह पाप करना ही होगा । इस से बड़ा पाप शायद आज तक संसार में न हुआ हो, पर यह पाप तुम को करना होगा । तुम्हारे पातिव्रत पर सन्देह किया जा रहा है और तुम्हें इस सन्देह को मिटाना होगा ।

यदि तुम्हारी जान जोखिम में होती तो कुछ हर्ज न था। अपनी जान देकर हरदौल को बचा लेती। पर इस समय तुम्हारे पातिव्रत पर आंच आ रही है। इसलिए तुम्हें यह पाप करना होगा। यदि तुम्हारा चित्त तनिक भी विचलित हुआ, यदि तुम्हारा मुखड़ा जरा भी मद्धम हुआ, तो इतना बड़ा पाप करने पर भी तुम सन्देह मिटाने में सफल न होगी। तुम्हारे जी पर चाहे जो बीते, पर तुम्हें यह पाप करना ही पड़ेगा। परन्तु कैसे होगा! क्या मैं हरदौल का सिर उतारूंगी! यह सोच कर रानी के शरीर में कंपकंपी आ गई। नहीं, मेरा हाथ उस पर कभी नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल! मैं तुम्हें विष नहीं खिला सकती। मैं जानती हूं, तुम मेरे लिए आनन्द से विष का बीड़ा खा लोगे। हां, मैं जानती हूं, तुम नाहीं न करोगे। पर मुझ से यह महापाप नहीं हो सकता, एक बार नहीं, हज़ार बार नहीं हो सकता।

[४]

हरदौल को इन बातों की कुछ भी खबर न थी। आधी रात को एक दासी रोती हुई उसके पास गई और उसने उससे सब समाचार अक्षर अक्षर कह सुनाया। वह दासी पानदान लेकर रानी के पीछे पीछे राजमहल के दरवाजे तक गई थी और सब बातें सुन कर आई थी। हरदौल राजा का ढंग देखकर पहले ही ताड़ गया था कि राजा के मन में कोई न कोई कांटा अवश्य खटक रहा है। दासी की बातों ने उसके सन्देह को और भी पक्का कर दिया। उसने दासी से कड़ी मनाही कर दी कि सावधान! किसी दूसरे के कानों में इन बातों की भनक न पड़े और वह स्वयं मरने के लिए तैयार हो गया।

हरदौल बुन्देलों की वीरता का सूरज था। उस के भौंहों के तनिक इशारे से तीन लाख बुन्देले मरने और मारने के लिए इकट्ठे हो सकते थे। ओरछा उस

पर न्योछावर था। यदि जुझारसिंह खुले मैदान उसका सामना करते तो अवश्य मुंह की खाते क्योंकि हरदौल भी बुन्देला था और बुन्देले अपने शत्रु के साथ किसी प्रकार की मुंह देखी नहीं करते, मरना मारना उनके जीवन का एक अच्छा बहलाव है। उन्हें सदा इसकी लालसा रहती है कि कोई हमें चुनौती दे, कोई हमें छेड़े, उन्हें सदा खून की प्यास रहती है और वह प्यास कभी नहीं बुझती। परन्तु उस समय एक स्त्री को उसके खून की जरूरत थी और उसका साहस उसके कान में कहता था कि निर्दोष और सती अबला के लिए अपने शरीर का खून देने से मुंह न मोड़ो। यदि भैया को यह संदेह होता कि "मैं उनके खून का प्यासा हूं और उन्हें मार कर राज पर अधिकार करना चाहता हूं तो कुछ हर्ज न था। राज्य के लिये कतल और खून, दगा और फरेब सब उचित समझा गया है। परन्तु उनके इस सन्देह का निपटेरा मेरे मरने के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता। इस समय मेरा धर्म है कि अपने प्राण देकर उनके इस सन्देह को दूर कर दूं। उनके मन में यह दुखाने वाला सन्देह उत्पन्न करके यदि मैं जीता रहूं और अपने मन की पवित्रा जनाऊं तो मेरी ढिठाई है। नहीं, इस भले काम में अधिक आगा-पीछा करना अच्छा नहीं। मैं खुशी से विष का बीड़ा खाऊंगा। इससे बढ़कर शूरवीर की मृत्यु और क्या हो सकती है? क्रोध में आकर मारू के दिल बढ़ाने वाले शब्द सुनकर रणक्षेत्र में अपनी जान को तुच्छ समझना इतना कठिन नहीं है। आज सच्चा वीर हरदौल अपने हृदय के बड़प्पन पर अपनी सारी वीरता और साहस न्यौछावर करने को उद्यत है।

दूसरे दिन हरदौल ने खूब तड़के स्नान किया। बदन पर अस्त्र शस्त्र सजे, मुसकराता हुआ राजा के पास गया। राजा भी सोकर तुरन्त ही उठे थे, उनकी अलसाई हुई आंखें हरदौल की मूर्ति की ओर लगी हुई थीं। सामने सङ्गमरमर की चौकी पर विष मिला हुआ पान सोने की तश्तरी में रक्खा हुआ था। राजा कभी पान की ओर ताकते और कभी मूर्ति की ओर, शायद

उनके विचार ने इस विष की गांठ और उस मूर्ति में एक सम्बन्ध पैदा कर दिया दिया था। उस समय जो हरदौल एकाएक घर में पहुंचे तो राजा चौंक पड़े। उन्होंने भल कर पूछा,—"इस समय कहां चले?"

हरदौल का मुखड़ा प्रफुल्लित था। वह हंस कर बोला,—"कल आप यहां पधारे हैं, इसी खुशी में मैं शिकार खेलने जाता हूं। आप को ईश्वर ने अजीत बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"

यह कह कर हरदौल ने चौकी पर से पानदान उठा लिया और उसे राजा के सामने रखकर बीड़ा लेने के लिए हाथ बढ़ाया। हरदौल का खिला हुआ मुखड़ा देखकर राजा की ईर्षा की आग और भी भड़क उठी। दुष्ट! मेरे घाव पर नमक छिड़कने आया है। मेरे मान और विश्वास को मिट्टी में मिलाने पर भी तेरा जी न भरा? मुझ से विजय का बीड़ा मांगता है? हां, यह विजय का बीड़ा है। पर तेरी विजय का नहीं, मेरी विजय का।

इतना मन में कहकर जुझारसिंह ने बीड़े को हाथ में उठाया। वे एक क्षण तक कुछ सोचते रहे, फिर कुछ मुस्कराकर हरदौल को बीड़ा दे दिया। हरदौल ने सिर झुका कर बीड़ा लिया, उसे माथे पर चढ़ाया, एक बार बड़ी करुणा के साथ चारों ओर देखा और फिर बीड़े को मुंह में रख लिया। एक सच्चे राजपूत ने अपना पुरुषत्व दिखा दिया। विष हलाहल था, कण्ठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई और आंखें बुझ गईं। उसने एक ठण्डी सांस ली, दोनों हाथ जोड़ कर जुझारसिंह को प्रणाम किया और जमीन पर बैठ गया। उसके ललाट पर पसीने की ठण्डी ठण्डी बूंदें दिखाई

दे रही थीं और सांस तेजी से चलने लगी थी, चेहरे पर प्रसन्नता और सन्तोष की झलक दिखाई देती थी।

जुझारसिंह अपनी जगह से जरा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्षा से भरी हुई मुसकराहट छाई थी, पर आंखों में आंसू भर आये थे। उजेले और अन्धेरे का मिलाप हो गया था।

—स्व० मुंशी प्रेमचन्द

—:०:—

२२
आयोदधौम्य और उनके शिष्य

आरुणि

महर्षि आयोदधौम्य के आरुणि नाम का एक शिष्य था। एक दिन उन्होंने आरुणि से कहा—"बेटा! खेत का सारा जल बाहिर निकला जा रहा है, तुम तुरन्त जाकर खेत की मेंड़ बांध दो।"

गुरु की आज्ञा पाते ही आरुणि झट दौड़ा गया और मेंड़ बांधने लगा। किन्तु एक तो वर्षा का जल और दूसरे गीली मिट्टी—इससे जिस मिट्टी से वह मेंड़ बांधता था, वह झट बह जाती। आरुणि ने जल रोकने की बहुत चेष्टा की पर जल तब भी न रुका।

किन्तु आरुणि काम आरम्भ कर, बिना उसे पूरा किये, चुपचाप बैठने वाला युवक न था। जब मेंड़ को पानी फोड़ता तब आरुणि झट मिट्टी थोप देता था। परन्तु जब इससे भी कुछ फल नहीं हुआ तब आरुणि जल रोकने के लिये मेंड़ के पास जा लेटा। उसके ऐसा करने से जल भी रुक गया और उस का मन भी बहुत प्रसन्न हुआ।

उधर जब सन्ध्या हो गई और आरुणि लौट कर घर न गया, तब महर्षि ने अपने और शिष्यों से पूछा—"आरुणि कहां है?"

शिष्यगण—"भगवन् ! सवेरे आपने उसे खेत की मेंड़ बांधने को भेजा था, तब से वह लौट कर यहां नहीं आया ।"

यह सुन मुनि को चिन्ता हुई और उन्होंने घबड़ा कर पूछा—

महर्षि—क्या कहा, क्या वह अब तक नहीं आया ? तब तो अवश्य वह किसी संकट में पड़ गया होगा। जल्दी चलो। उसका पता लगाना चाहिये।

यह कह कर आयोदधौम्य खेत के पास पहुंच कर आरुणि का नाम लेकर उसे पुकारने लगे।

महर्षि—बेटा आरुणि ! तुम कहां हो ? शीघ्र आओ।

गुरु का शब्द सुन आरुणि धीरे धीरे जल के बाहर निकल कर गुरु के पास गया और उन्हें प्रणाम किया। तब गुरु ने उससे पूछा—

महर्षि—बेटा ! अभी तक तुम कहां थे ?

आरुणि—भगवन् ! जब मैं पानी किसी तरह न रोक सका, तब मैं स्वयं मेंड़ के पास पड़ रहा और पानी को रोके रक्खा। अब आपकी क्या आज्ञा है ? अब मुझे क्या करना होगा ?

आरुणि का हाल सुन, महर्षि के मन में बड़ी दया उपजी। वे कहने लगे—

महर्षि—बेटा तेरा मंगल हो। मेरे आशीर्वाद से तू सब शास्त्रों का अद्वितीय पण्डित होगा ! मेंड़ छोड़कर तू मेरे पास चला आ। मैंने तेरा नाम उद्दालक रक्खा।

इस प्रकार आरुणि सारी विद्याओं को पाकर और गुरु को प्रणाम कर अपने घर लौट गया ।

उपमन्यु

आयोदधौम्य के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। एक दिन महर्षि ने उपमन्यु से कहा—

महर्षि—बेटा ! मैं तुझे अपनी गौओं के चराने का काम सौंपता हूं। तू बड़े यत्न के साथ उनकी देख रेख रखना ।

उपमन्यु बड़े यत्न से गुरु जी की गौओं को चराने लगा। सारे दिन गौओं को चरा कर सन्ध्या के समय आश्रम में आता और गुरु जी को प्रणाम कर उनके सामने खड़ा हो जाता। इसी रीति से जब बहुत दिन बीत गए तब एक दिन महर्षि ने देखा कि उपमन्यु दिनों दिन मोटा होता चला जाता है । इस से उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उससे पूछा—

महर्षि—बेटा ! तुम नित्य मोटे होते चले जाते हो, इसका क्या करण है ? तुम क्या खाते हो ?

उपमन्यु—भगवन् ! भिक्षा मांग कर जो कुछ मैं पाता हूं उसी से अपना पेट भर लिया करता हूं।

महर्षि—यह क्या ? भिक्षा मांग कर जो तुम लाते हो उसे बिना हमें दिखलाये खा लिया करते हो—यह तो ठीक नहीं ! तब से बराबर उपमन्यु जो कुछ मांग जांच कर लाता वह गुरु के सामने रख देता। गुरु उस में से कुछ भी उपमन्यु को न देते। उपमन्यु तब भी बहुत प्रसन्न रहता और सारे दिन गौओं को चरा कर, सन्ध्या के समय हाथ जोड़कर गुरु के सामने जा खड़ा होता। महर्षि ने देखा,

तब भी उपमन्यु की मुटाई कुछ कम न हुई। बल्कि वह दिनों दिन और भी मोटा होता जाता है। तब बड़े आश्चर्य में आकर महर्षि ने उपमन्यु से पूछा—

महर्षि—बेटा उपमन्यु! भिक्षा मांग कर जो कुछ तुम लाते हो वह सब तो मैं रख लेता हूं। तिस पर भी तुम मोटे होते चले जाते हो। आज कल तुम क्या खाते पीते हो?

उपमन्यु—भगवन्! एक बार आपके लिए भिक्षा मांग कर दूसरी बार अपने लिए फिर भिक्षा मांगने जाया करता हूं।

महर्षि—यह तो तू बड़े अन्याय का काम किया करता है। तेरे ऐसा करने से औरों की भिक्षा में कमी पड़ती है। भले लोग ऐसा काम नहीं करते।

इस पर उपमन्यु राजी हो गया और दूसरी बार भिक्षा मांगने न जाने लगा। दिन भर गौओं को चराता और शाम को गुरु जी के सामने हाथ जोड़ कर आ खड़ा होता था। महर्षि ने देखा उपमन्यु की मुटाई तब भी कम नहीं हुई। तब उन्होंने उससे फिर पूछा—

महर्षि—बेटा! तू अपनी भिक्षा का सारा अन्न तो मुझे ला कर दे देता है और फिर अपने लिए मांगने नहीं जाता। तिस पर भी तू क्यों मोटा होता जाता है? आज कल तू क्या खाता है?

उपमन्यु—आज कल मैं गौओं का दूध पीता हूं।

महर्षि—हमने जब तुझे दूध पीने की आज्ञा नहीं दी तब तू क्यों दूध पी लिया करता है? यह तो ठीक नहीं।

उपमन्यु ने लज्जित होकर कहा—"जो आज्ञा। अब दूध न पीऊंगा।"

इसके बाद उपमन्यु दिन भर गौओं को चरा कर सन्ध्या समय गुरु जी के सन्मुख हाथ जोड़ कर आ खड़ा होता। उपमन्यु तब भी न टला। तब महर्षि ने उससे फिर पूछा —

महर्षि—बेटा! तू अपने लिए भिक्षा भी नहीं लाता, गौओं का दूध भी पीना छोड़ चुका है; अब तू क्या खाया पिया करता है ?

उपमन्यु—बछड़ों के मुख से दूध पीते समय दूध का जो फेन गिरा करता है, मैं आज कल वही खा लिया करता हूं।

महर्षि—हरे हरे! बेटा ऐसा फिर न करना। बछड़ों के हृदय में बड़ी दया होती है। जब वे तुझे फेन खाते देखते होंगे तब तेरे लिए वे अधिक फेन डाल दिया करते होंगे। इस से उनका पेट न भरता होगा।

उपमन्यु—(नीचा सिर करके) बहुत अच्छा।

अब उस बेचारे के सभी आहार के द्वार बन्द हो गए। न तो वह अपने लिये भिक्षा मांग सकता; न दूध पी सकता और न फेन ही खा सकता। तो भी भूख प्यास को सह कर वह गुरु जी की गौओं को चराने लगा। जब बहुत भूख लगती, तब सामने वाले पेड़ के थोड़े से पत्ते तोड़ कर वह चबा डालता और इसी तरह अपना पेट भर लिया करता था।

उन पत्तों को लगातार कई दिन खाते खाते उपमन्यु धीरे धीरे अन्धा हो गया और एक दिन सन्ध्या को घर लौटते समय एक कुएं में गिर पड़ा।

उधर सन्ध्या हो जाने पर भी उपमन्यु न आया। तब महर्षि को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—

महर्षि–देखो, उपमन्यु आज अभी तक नहीं लौटा। उसका आहार न्द कर दिया गया है। जान पड़ता है इससे वह अप्रसन्न हो गया है। चल र देखना चाहिए वह कहां गया।

वन में जाकर महर्षि उपमन्यु का नाम लेकर उसे पुकारने लगे। गुरु जी ा शब्द पहचान कर उपमन्यु ने कुएं के भीतर से बड़े जोर से कहा—

उपमन्यु—भगवन्। मैं कुएं में गिर पड़ा हूं।

महर्षि—(आश्चर्य) तुम कुएं में क्यों कर गिरे?

उपमन्यु—आक के पत्ते खाने से मैं अन्धा हो गया हूं। इसी से मैं कुएं में गिर पड़ा हूं।

महर्षि—अच्छा, अश्विनी कुमारों की स्तुति कर, तेरी आंखें अच्छी हो जायंगी।

तब उपमन्यु ने अश्विनी कुमारों की स्तुति की। तब ये प्रसन्न होकर पास आकर बोले।

अश्विनीकुमार–हम तेरी स्तुति से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं! हम तेरे लिए यह मिठाई लाए हैं, तू इसे खा ले।

उपमन्यु ने उन देवताओं को प्रणाम किया और विनय पूर्वक कहा—

उपमन्यु—आप लोगों की बात तो मैं नहीं टाल सकता, पर गुरु को पहले अर्पण किए बिना मैं कुछ भी नहीं खा सकता।

अश्विनीकुमार–एक बार हमने तेरे गुरु को भी यह मिठाई दी थी और

उन्होंने गुरु को बिना दिए ही खा ली थी। जैसा उन्होंने किया वैसा ही तू भी कर। इसमें तुझे क्या अटकाव है ?

उपमन्यु—(हाथ जोड़ कर) मैं आप से विनय पूर्वक कहता हूं कि मैं गुरु को दिए बिना पिष्टक न खाऊंगा।

अश्विनीकुमार—(प्रसन्न होकर) हम लोग तेरी गुरुभक्ति देख कर बहुत प्रसन्न हुए हैं। तेरे गुरु के दांत लोहे के और तेरे सोने के होंगे। तेरी आंखें तो अच्छी हो ही जावेंगी, इसके अतिरिक्त तेरा कल्याण भी होगा।

यह बात पूरी होते न होते उपमन्यु की आंखें खुल गईं और कुएं के भीतर से उसे सब वस्तुएं दिखाई पड़ने लगीं। इससे उपमन्यु को बड़ी प्रसन्नता हुई और बड़ी भक्ति के साथ उसने देवताओं को धन्यवाद दिया। फिर उसे कुएं से निकलते देर न लगी। इसके बाद उपमन्यु ने आकर सारा हाल अपने गुरु जी से कहा। गुरु जी उपमन्यु का सारा हाल सुन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—

महर्षि—अश्विनीकुमारों ने जैसा कहा है, वैसा ही होगा। तेरा हर प्रकार से कल्याण होगा। आज से वेद तथा अन्य शास्त्रों की कोई बात ऐसी न रहेगी, जिसे तू न जानता हो।

इस प्रकार अयोदधौम्य अपने शिष्यों की परीक्षा लिया करते थे। उस समय के मुनिगण हर किसी को विद्या नहीं दिया करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि पात्र में दी हुई विद्या फूलेगी और फलेगी। पात्र को विद्यादान करने से उनकी कीर्ति बढ़ेगी। देश, धर्म और समाज की भलाई होगी। इससे महर्षि आयोदधौम्य अपने शिष्यों की भली भांति परीक्षा कर लिया करते थे। पर यदि वे महर्षि परीक्षा का इतना दुखदायी और कड़ा नियम न रख कर परीक्षा का कोई

अन्य सरल उपाय निकालते तो अच्छा होता, क्योंकि ऐसी कड़ी परीक्षा में सफल होना हर एक का काम नहीं है। जिस शिष्य की महर्षि एक बार भी परीक्षा लेते, वह उसे आजन्म नहीं भूलता था।

वेद

अयोदधौम्य का एक शिष्य था, उसका नाम वेद था। उसकी भी महर्षि ने बड़ी कड़ी परीक्षा ली। जाड़े गरमी में मनुष्य को भूख प्यास और सरदी गरमी से जो कष्ट मिल सकते हैं वे सब वेद के भाग्य में लिखे थे। पर वाह रे वेद! उसने हंसते हंसते सब क्लेशों को सहा और गुरु जी की सेवा से मुंह न मोड़ा। पर वह मन ही मन कहा करता था—

"भगवन्! आपकी दया से यदि मैं पढ़ लिखकर पण्डित हो गया और मुझे भी शिष्य पढ़ाने पड़े तो मैं तो उन्हें कभी इस प्रकार के कष्ट न दूंगा।"

सचमुच वेद ने कभी अपने शिष्यों से अपने घर का कोई काम न करवाया। वेद के शिष्य जैसे सुख से रहते वैसे कदाचित् ही अन्य किसी के रहे होंगे। वेद के शिष्यों में जनमेजय और पौष्य जैसे बड़े बड़े राजा भी थे।

वेद के एक शिष्य का नाम उत्तङ्क था। एक बार वेद अपने घर की देख रेख का काम उत्तङ्क को सौंप भ्रमण करने के लिये विदेश गए। उत्तङ्क बड़ा धार्मिक और विद्वान् था। गुरु के विदेश रहने पर उत्तङ्क ने उनके घर का ऐसा उत्तम प्रबन्ध किया कि वैसा प्रबन्ध बहुत थोड़े लोगों से हो सकता है। वेद ने लौट कर देखा कि उत्तङ्क ने घर का बहुत उत्तम प्रबन्ध कर रक्खा है और किसी किसी

विषय में तो उसने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया है। इससे वेद उसके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए और उससे बोले—

वेद—बेटा उत्तङ्क ! मैं तुम्हारे व्यवहार से बहुत प्रसन्न हूं। तुम्हारी मनोकामना पूरी हो। तुम पूर्ण विद्वान् होकर अपने घर लौट जाओ।

गुरु की बातें सुन उत्तङ्क ने हाथ जोड़ कर कहा—

उत्तङ्क—भगवन् ! मैं गुरुदक्षिणा देने के लिये आज्ञा चाहता हूं। मैंने सुना है कि गुरु को दक्षिणा न देने से गुरु और शिष्य दोनों का अनिष्ट होता है। इससे आप आज्ञा दें तो मैं दक्षिणा लाऊं ?

वेद—अच्छा फिर बतलाऊंगा।

इसके बाद वेद इस बात को भूल गए, तब उत्तङ्क ने उन्हें याद दिलाते हुए कहा—

उत्तङ्क—गुरुवर्य ! दक्षिणा के बारे में कुछ आज्ञा हो। वेद बड़े सीधे साधे मनुष्य थे। वे उत्तङ्क के सद्व्यवहार ही से सन्तुष्ट थे और उसे ही गुरुदक्षिणा समझ बैठे थे। इसी से उत्तङ्क को दक्षिणा के लिये बार बार टोकते देख, वेद ने उसे सन्तुष्ट करने के लिये, उससे नाम मात्र की दक्षिणा लेनी चाही। किन्तु उससे क्या मांगें, यह बात वे निश्चित न कर सके। अन्त में वेद ने कहा—

वेद—तुम जाकर गुरुआनी से पूछो। वे जो कुछ कहें उसे लाकर उन्हें दो।

तब उत्तङ्क गुरुआनी के पास गये और उनसे बोले—

उत्तङ्क—माता ! गुरु जी ने मुझे घर जाने की आज्ञा दी है। मैं कुछ गुरुदक्षिणा देना चाहत हूं। आज्ञा दो मैं क्या आप के चरण में भेंट करूं।

गुरुआनी—बेटा ! पौष्य राजा की रानी जो दो कुण्डल पहने हुए हैं, वे ही दोनों कुण्डल मुझे ला दो। आज तीन दिन बाद व्रत का उद्यापन होगा और ब्रह्मभोज होगा। कुण्डल उस दिन तक आ जायं, जिस से उस समय उन्हें पहन कर ब्राह्मणों को भोजन करा सकूं। यदि उस समय तक कुण्डल ले आये, तो तुम्हारा मंगल होगा, नहीं तो कष्ट पाओगे। उत्तङ्क कुण्डल लाने के लिये उसी दम चल दिये। थोड़ी दूर जाने पर उत्तङ्क ने देखा कि एक बड़ा लम्बा चौड़ा जवान, एक सांड पर चढ़ा हुआ बीच एक सड़क पर खड़ा है। उस मनुष्य ने सांड का गोबर दिखला कर कहा, "उत्तङ्क ! तुम इसे खा लो।"

यह सुन और नाक भौं सिकोड़ कर उत्तङ्क ने कहा।

उत्तङ्क—वाह ! यह तो बहुत कही ! मैं गोबर कभी न खाऊंगा।

सांड का सवार—डरो मत ! तुम निडर होकर इसे खा लो, तुम्हारे गुरु ने भी इसे एक बार खाया था।

जब गुरु एक बार काम को कर चुके हैं, उसे उत्तङ्क को करते भला कितनी देर लग सकती थी। इसके अतिरिक्त उस रोबीले जवान के रोब में आकर उत्तङ्क ने झट गोबर खा लिया, फिर हाथ मुंह धोए बिना ही उत्तङ्क आगे बढ़े।

पौष्य की राजसभा में पहुंच कर उत्तङ्क ने राजा को आशीर्वाद देकर, जब उनसे वे दोनों कुण्डल मांगे, तब राजा ने उन से कहा—

पौष्य—आप रानी से जाकर कुण्डल मांग लीजिए।

यह सुन उत्तङ्क महल के भीतर गए, पर वहां उन्हें रानी न दिखाई पड़ी। इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने लौट कर राजा से कहा।

उत्तङ्क—आप मुझे धोखा देते हैं। मुझे तो रानी भीतर कहीं दिखाई तक न पड़ी।

पौष्य—मैं आप को धोखा नहीं देता। पर मेरी रानी ऐसी धर्मात्मा है और उसका मन ऐसा पवित्र है कि अपवित्र मनुष्य उसे देख नहीं सकता। जान पड़ता है आप किसी प्रकार अपवित्र हो गए हैं।

तब उत्तङ्क को याद आई कि जल्दी में हम ने हाथ पैर नहीं धोए और न अच्छी तरह कुल्ला ही किया। यह सोच उन्होंने भली भांति आचमन किया और वे फिर रानी के पास गए। इस बार रानी उन्हें दिखाई पड़ी।

रानी जानती थी कि उत्तङ्क बड़ा साधु और दानपात्र है, इसलिये उत्तङ्क के कहते ही रानी ने उसे कुण्डल उतार कर दे दिये और कहा—

रानी—इन कुण्डलों को बड़ी सावधानी से ले जाना। तक्षक नाग इनके लिए कई बार चेष्टा कर चुका है। लौटते समय यदि वह तुम्हारे साथ कोई घटियाई करे तो आश्चर्य नहीं। तुम बड़ी सावधानी से जाना।

उत्तङ्क—डर की बात नहीं। तक्षक मेरा क्या कर सकता है।

यह कह कर उत्तङ्क वहां से चल दिया। जब वह बहुत दूर निकल आया तब उसे एक सरोवर मिला। वह सोचने लगा, स्नान का समय भी हो गया है और इस सरोवर का जल भी अच्छा है, इसलिए पहले स्नान करके नित्य कर्म कर लेना अच्छा है। यह सोच कर उत्तङ्क ने कुण्डल तो सरोवर के तट पर रख दिये और स्वयं जल में धसा। ज्योंही उसने डुबकी लगाई, त्योंही न मालूम किधर से तक्षक आया और उन कुण्डलों को उठा कर चल दिया। उत्तङ्क स्नान और नित्य नैमित्तिक कर्मों से निश्चिन्त होकर जब ऊपर आया, तब कुण्डलों के चोर का उसने बहुत पीछा किया। उत्तङ्क के हाथ से चोर का निकल जाना सहज न था। यदि वह रास्ता सीधा होता तो चोर निकल कहीं भाग न सकता था, पर जब चोर ने देखा कि उत्तङ्क से पीछा छुड़ाना कठिन है, तब वह झट सांप बन गया और एक बिल में घुस गया। तब उत्तङ्क ने समझा वह तक्षक था।

अब क्या करना चाहिये ? तक्षक तो पाताल में है। यदि वह बिल बड़ा होता तो उत्तङ्क उस में घुस कर पाताल में पहुंचता। किन्तु उस बिल का मुंह इतना छोटा था कि उत्तङ्क की लाठी भी उसमें नहीं घुस सकती थी। तिस पर भी उत्तङ्क ने अपनी ओर से कोई बात उठा न रक्खी थी। लाठी से खोद कर कर उसका मुख बड़ा किया।

उत्तङ्क को इस प्रकार व्याकुल देख, इन्द्र के मन में बड़ी दया उपजी। उन्होंने अपने वज्र को आज्ञा दी कि तुम ब्राह्मण की लाठी में घुस कर उसकी सहायता करो।

वज्र कब उत्तङ्क की लाठी में घुस गया, यह बात उसे विदित न हो पायी। उसने देखा कि लाठी के एक कोंचे ही में वहां बड़ा भारी गढ़ा हो गया। उस गढ़े में कूद कर उत्तंङ्क ने उसी लाठी से खोदना आरम्भ किया। जैसे जैसे वह गढ़ा खोदा जाता वैसे ही वैसे वह गढ़ा बड़ा होता जाता था। इस प्रकार देखते देखते उत्तङ्क पाताल में जा पहुंचा। उस समय पाताल की शोभा का क्या कहना था। वैसी सुन्दर अटारियां और वैसे घर, मठ, मन्दिर, सड़क, हाट, बाट, आदि हमने कभी नहीं सुने।

किन्तु उत्तङ्क को वहां की शोभा देखने का अवकाश न था। वह तो कुंडलों की खोज में गया था, इस लिये वह कुंडल लौटा लाने के लिये ऊंचे स्वर में सर्पों का स्तव करने लगा किन्तु सांपों ने उसके स्तव पर कुछ भी ध्यान न दिया। इससे वह विकल होकर चारों ओर घूमने लगा। इतने में उसे दो स्त्रियां कपड़े बिनती हुई दिखाई पड़ीं। उस कपड़े का ताना सफेद सूत का और बाना काले सूत का था। एक पहिया था, उसमें बारह खूंटी लगी थीं और छः लड़के उसे घुमा रहे थे। उसके पास एक सुन्दर घोड़े पर एक बहुत गोरा मनुष्य बैठा हुआ था।

यह देख उत्तङ्क को बड़ा अचम्भा हुआ। वह उनकी स्तुति करने लगा। स्तव सुन कर उस गोरे मनुष्य ने कहा, मैं तुम्हारे स्तव से तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। बोलो तुम क्या चाहते हो?

उत्तङ्क—यदि आप दया करके सांपों को मेरे हाथ में कर देते तो बड़ा उपकार हो।

गोरा मनुष्य—तुम इस घोड़े के पीछे खड़े होकर धीरे धीरे इसके शरीर को फूंको।

यह सुनते ही उत्तङ्क उस घोड़े के पीछे खड़े होकर फूंक मारने लगे। इतने में उस घोड़े के शरीर से धुआं और नाक, कान, मुख, से धुप् धुप् करके अग्नि की लपटें निकलने लगीं। देखते देखते वह धुआं सांपों की नाक, आंख और मुंह में घुस कर उनको विकल करने लगा। वे अपने घरों में न रह सके। हांफते हांफते और विकल होते वे सब निकले और उस अग्नि में जलने लगे।

तब मारे डर के तक्षक गिरता पड़ता और हाथ में कुण्डल लिये उत्तङ्क के पास गया और कांपते हुए उससे कहा—"हे ब्राह्मण देवता! यह लो अपने कुण्डल।"

उत्तङ्क को कुण्डल पाकर बड़ा आनन्द हुआ, किन्तु वह प्रसन्नता बहुत देर तक न रही। क्योंकि उसने उसी समय हिसाब लगा कर देखा कि गुरुआनी का उद्यापन उसी दिन आरम्भ होने वाला है। इस लिए समय पर वहां पहुंचना असम्भव है।

उत्तङ्क के मन की बात जानकर उस गोरे मनुष्य ने कहा—

गोरा मनुष्य—उत्तङ्क तुम चिन्ता मत करो। तुम इस घोड़े पर सवार हो

लो, यह तुम्हें बात की बात में गुरु के घर पहुंचा देगा। यह कह कर उस दयालु गोरे पुरुष ने उत्तङ्क को अपने घोड़े पर सवार करा दिया। उस घोड़े ने एक पल में उसे गुरु के घर पहुंचा दिया। गुरुआनी उस समय स्नान करके सिर के बाल बांध रही थीं और उत्तङ्क के आने में देर हुई देख वे सोच रही थीं कि उसे शाप देना चाहिये। इतने में उत्तङ्क ने आकर गुरुआनी को प्रणाम किया और दोनों कुण्डल उन्हें दिए। गुरुआनी का सारा गुस्सा कुण्डलों को देखते ही जाता रहा। वे हंस हंस कर बार बार कुंडलों को देखने लगीं और उत्तङ्क से बोलीं —

गुरुआनी—बहुत अच्छा बेटा! आने में देर लगाई। मैं तुझे अभी शाप देने वाली थी पर अब तुझे आशीर्वाद देती हूं। तेरा मंगल हो, तू बहुत दिनों तक सुख पूर्वक जी। इस प्रकार गुरुआनी को प्रसन्न कर उत्तङ्क ने वेद के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। तब वेद ने उससे पूछा—

वेद—बेटा! अच्छा तो है? इतनी देर तूने कहां लगायी?

इस प्रश्न के उत्तर में तक्षक का सारा हाल सुना कर उत्तङ्क ने उनसे कहा—

उत्तङ्क—गुरुदेव! पाताल में जाकर मैंने देखा कि दो स्त्रियां सफेद और काले सूत का कपड़ा बिन रहीं हैं। छः लड़के बारह खूंटियों द्वारा एक पहिया घुमा रहे हैं। एक गोरा आदमी एक बड़े सुन्दर घोड़े पर उनके पास बैठा है। यहां से जाते समय मुझे रास्ते में एक बड़ा भयानक मनुष्य सांड पर चढ़ा हुआ मिला था। उसने मुझे सांड का गोबर खिलाया और कहा कि तेरे गुरु ने भी इसे खाया हैं। मैं तो उन में से किसी को पहचानता नहीं। वे लोग हैं कौन?

वेद—बेटा! वे दोनों स्त्रियां तो जीवात्मा और परमात्मा हैं। पहिला वर्ष है। बारह खूंटियां बारह महीने हैं। छः बालक छः ऋतुएं हैं। गोरा मनुष्य

पर्जन्य और घोड़ा अग्नि है। रास्ते में जो सांड तूने देखा, वह ऐरावत था और जो उस पर सवार थे वे इन्द्र थे। तूने जो खाया वह अमृत था। इन्द्र मेरे मित्र हैं इसी से दया करके उन्होंने तुझे अमृत खिलाया। यदि वे ऐसा न करते तो सांपों के देश से तेरा जीते जागते लौटना असम्भव था। अब मैं तुझे आशीर्वाद देता हूं—तेरा मंगल हो और सुखपूर्वक बहुत दिनों लौं जीवित रह। अब तू अपने घर जा।

गुरु को भक्ति पूर्वक प्रणाम करके उत्तङ्क उनसे विदा हुआ। किन्तु वह अपने घर न जाकर जनमेजय के पास हस्तिनापुर गया। वह तक्षक के ऊपर बहुत क्रुद्ध था। यह बात तुम बिना बतलाए ही जानते हैं। उस दुष्ट तक्षक को दंड दिलाने के लिए ही उत्तङ्क जनमेजय के पास गया था। उसी का फल जनमेजय का सर्पयज्ञ था।

(भारतीय-उपाख्यान-माला)

महाभारत, पर्व १, अध्याय ३.

——:०——

२३

कृष्णार्जुन-युद्ध

चतुर्थ दृश्य

(स्थान—इन्द्रसभा। बृहस्पति, अग्नि, वरुण, कुबेर, चन्द्र
इत्यादि देवता यथास्थान स्थित हैं, मध्य में
सिंहासन खाली है।)

(सेवक का प्रवेश)

सेवक—जय जय जय देवाधिराज,
सुर नर समाज अति वन्दनीय।
जलधर समाज अधिराज राज,
जय विधि हरि हर अभिनन्दनीय।
जय सुरेन्द्र देवेश

पधारिये भगवन् पधारिये।

(इन्द्र का किन्नर और किन्नरियों समेत प्रवेश)

(सब सभा स्वागत के लिये उठती है, इन्द्र सिंहासन पर विराजते हैं। किन्नर और किन्नरियें नाच गान प्रारम्भ करती हैं।)

आवो, सुरेश महाराज के गुण गाव,—जय जय—
उन्हें तन मन मुदित रिझाव, आव। आवो, सुरेश—
सुर-स्वामी, शचि स्वामी, छवि है अहा अपार।

गुण-गण-निधान, दल-बल-विधान,
सुरगण-प्रधान कहो बारबार।
जय बोलो तन मन बार बार,
महिमा विलोक हिय हार हार,
सुप्रेमाञ्जलि चरणों डार, डार।

मेघ अधिराजा के गुण गाव, जय जय। आवो—

(गाते हुए सब का जाना)

बृहस्पति—वज्री दली दुर्जय दानवों को,
साहाय्य दो वासव मानवों को।
ब्रह्माण्ड में यों सुर-कीर्ति छावो,
साफल्य श्री शक्र सदैव पावो॥

इन्द्र—

कई दिवस उपरान्त आज है हुआ वसन्तोत्सव का अन्त,
राग रङ्ग से थका, छका सा, देव वृन्द है मन्द दिगन्त।
अपनी भरीई कूकें सुन चकित कोकिला होती है,
गुरु छत्तों में मधु-शय्या पर शिथिल मक्खियां सोती हैं॥
पुष्प भार से झुके वृत्त हैं, त्तण त्तण वायु ठिठकती है,
अति पराग से वन भी सारी मुरझाई सी दिखती है॥

आनन्द-विनोद समाप्त हुआ, उत्सव के आह्लाद से हमारी शक्तियों में नवीन उमङ्ग आ गई है। पूर्ण स्वास्थ्य कार्य करने की स्फूर्ति बढ़ाता है। अब हम अपने राज्य-कार्य की ओर मन फेरें। देवगण ! यह वर्ष भगवान् बृहस्पति की राजनीति कुशलता और आप सब की सहकारिता से सानन्द समाप्त हुआ। गत वर्ष के शासन-विवरण सुनाने के बाद नए वर्ष का कार्य प्रारम्भ हो !

बृहस्पति—महाराज !

होते हैं सब कार्य यहां के भिन्न मन्त्रियों के द्वारा।
उनके ही मुख से सुनियेगा शासन का विवरण सारा॥

यमराज ! अपना कार्य सुनाइये।

यमराज—(खड़े होकर) विश्व के न्याय-दण्ड की व्यवस्था अत्यन्त कठिन है, तो भी मेरे विभाग के कर्मचारी दृढ़ परिश्रम से सब कार्य बराबर चला रहे हैं। सभी सचराचर प्रकृति नियमों का पालन मूक भाव से किया करती है, किन्तु मनुष्य नामक प्राणी अपनी बुद्धि की विशेषता और विचार तथा कार्य करने की स्वाधीनता के गर्वमद से बहुत से नियमों का उल्लंघन करता है।

इन्द्र—किस प्रकार ?

यमराज—मैं केवल मुख्य बातें ही यहां पर कह सकता हूं। क्रूरता और अत्याचार, छल, कपट, द्रोह, ईर्षा, चोरी, व्यभिचार, असत् इत्यादि को तो उसने अपनाया ही है किन्तु इन दुर्गुणों की सहायता से उसने अनात्मवाद का प्रचार किया

है, संसार और जीवन को केवल आनन्दोपभोग की ही सामग्री बनाने में उसने अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी है।

ईश्वर को भुला रक्खा है। कोई कोई तो ईश्वर को भोले-भाले मनुष्यों के डराने का हौआ मात्र मानते हैं। ऐश्वर्य की लालसा से एक देश ने दूसरे देश पर अधिकार जमाया है, और उसका शासन इस ढंग से करता है जिस में अपना ही उदर भरे और उस परतन्त्र देश का नाश हो। छोटी छोटी जातियों ने पृथ्वी के आवश्यक से अधिक हिस्सों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। कोई राष्ट्र विजय की महत्त्वाकांक्षा में सब संसार को अपने चरणों में झुकवाना चाहता है। फल यह होता है कि विजेता में गर्व, लोभ, क्रूरता, क्रोध, इत्यादि की अधिकता होती जाती है, और विजित जातियों में भीरुता, फूट, चरित्र-भ्रष्टता अनाचारिता, कंगाली और कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इन्द्र—आप ऐसों को क्या दंड देते हैं?

यम—देवराज! मैं सब महत्त्वाकांक्षा मदान्धों को आपस में लड़वाता हूं, आपसी डाह से युद्ध की अग्नि सुलग उठती है और उनका नाश हो जाता है—जैसा कि अभी महाभारत में हुआ।

इन्द्र—और उन हतभाग्य पराजित देशों को किस प्रकार बचाते हो?

यम—उन देशों में जो देश-द्रोही और झूठी राजकृपा के भिक्षुक होते हैं, उन्हें मृत्यु के बाद कुंभीपाक में डालता हूं। उन देशों में अच्छे अच्छे विद्वान् और कर्मवीर पुरुष उत्पन्न होते हैं, वे संसार में कृत्रिम बन्धनों को तोड़ प्रजा को राजनैतिक,

सामाजिक इत्यादि अत्याचारों से मुक्त करते हैं। उनका जीवन कष्टमय बीतता है ही, क्योंकि राजा उन्हें तङ्ग करते हैं, स्वार्थी छलते हैं, और साधारण लोग अविश्वास करते हैं,—तो भी,

देता हूं मैं उन्हें सौख्यमय एक बड़ा सिंहासन।
करते हैं वे देवलोक में आकर इसका शासन॥

इन्द्र—यमराज! धन्य है आप की सावधानी को। (वरुण की ओर) कहिये जलदेव आपके कार्यों का क्या हाल है ? मैंने सुना है पृथ्वी पर कहीं कहीं अकाल पड़ते हैं ?

वरुण—महाराज! यह अकाल की बात सत्य है, किन्तु उसका कारण वर्षा नहीं है। सृष्टि पर जितने जल की आवश्यकता है, मैं बराबर देता हूं, किन्तु अकर्मण्य चाहे दरिद्र हों या धनिक, मैं उनकी नहीं सुनता। जल पृथ्वी पर नियमानुसार गिर जाता है, उसका उपयोग ले लेना चाहिये। किन्तु मृत्युलोक में कुछ ऐसे नराधम हैं जो सीधा खेत में पानी चाहते हैं।

मुझे भय है कि किसी दिन प्यास लगने पर वे अपने मुंह में ही पानी न मांगने लगें और कुवेर महाराज को आकाश से बनी बनाई रोटियां न बरसानी पड़ें। उसके विरुद्ध जो उद्योगी हैं, वे अपने परिश्रमों का 'र्ण फल पाते हैं। पथरीली भूमि और बरफीली ऋतुओं में रहते हुए भी वे स्वर्गीय सुख की सामग्री एकत्र कर लेते हैं, किन्तु उपजाऊ देश, अनुकूल जल-वायु भी निरुद्यमियों को दरिद्र ही बनाए रखते हैं।

इन्द्र—आप का कहना सत्य है । अब कुबेर जी अपनी व्यवस्था सुनावेंगे ।

कुबेर—देवराज ! मेरी वस्तु के उपयोग में लोग मदान्द हो जाते हैं, विचार शक्ति को बिल्कुल छोड़ बैठते हैं, अतः मुझे उन्हें शीघ्र धनहीन करना पड़ता है । जो यति और संन्यासी बन कर मेरे कोषों के डाकू बन गए हैं, जो धार्मिक संस्थाओं के धन के स्वयं मालिक बन बैठते हैं, जो सार्वजनिक क्षेत्रों में स्वार्थ की कामना करते हैं, जो संसार के गले काटकर बड़े हुए हैं, जो सुवर्ण के लिए धर्माधर्म का विचार नहीं करते, जो धन के लिए माता, पिता, भाई, कुटुम्ब, मित्र, देव, ईश्वर को भी कुछ नहीं समझते, जो मेरी कृपा के पुजारी बने रहते हैं, जो मेरे लिए अपनी जाति और-मातृ-भूमि के प्रति विश्वास घात करते हैं, जो मेरी मस्ती की नशीली आंखों से संसार के महापुरुषों को नहीं पहिचानते; जो मेरे लिए बड़े से बड़ा पाप कर सकते हैं, वे नहीं जानते कि मेरी माया चार दिन की चांदनी है । जानें क्यों ? वे तो उस दिन जानेंगे जिस दिन उनके हाथ में ठीकरा होगा, शरीर में बीमारियां होंगी, देश में दुष्काल होगा, राज्य में क्रान्तियां होंगी और घर में होगा महान् आपत्ति का आक्रमण । उसी दिन उनकी मस्ती झड़ेगी, उनका नाश होगा । इसके विरुद्ध जिनके हृदय महान् हैं, जिनके परिश्रम से प्रकृति कांपती है जो सदा सोच ही नहीं किन्तु कुछ किया भी करते हैं; जो अपने

भोग में मेरी कृपाओं को न लगा कर उचित दान में उनका उपयोग करते हैं, जो कृषि और व्यापार कला-कौशल और भौतिक विज्ञान, मितव्ययता और दीर्घोद्योग किया करते हैं; साथ ही जिन्हें उपयोग ज्ञात है, उनके सामने मैं हाथ जोड़ कर खड़ा रहता हूं। साक्षात् रावण ही क्यों न हो मैं उसकी सोने की लंका बन कर रहता हूं।

इन्द्र—धनराज! आपका शासन अत्यन्त उत्तम है। यह तो कहिए कि उस मूर्ख और अयोग्य पुत्र ने कौन सा उद्यम किया है, जो अपने करोड़पति पिता के धन वैभव का स्वामी बन जाता है।

कुबेर—इसमें मेरे प्रबन्ध का दोष नहीं, दोष है अपने को बुद्धिमान् और स्वाधीन समझने वाले मनुष्य का।

उसने किसी कारणवश ऐसे सामाजिक और राजकीय नियम बना रक्खे हैं, जिनके कारण धूर्त और अयोग्य भी अपार सम्पत्ति के स्वामी बन सकते हैं, धनवान् तथा गरीब का भेदभाव सदा के लिए दृढ़ होता, रहता है। किन्तु आगे चलकर पृथ्वी पर समष्टिवाद का बल बढ़ेगा। लोग प्रयत्न करेंगे कि धनवान् और धन-हीन का भेद मिटे। सुवर्ण तथा ऐश्वर्य से दमकते हुए महल और पास ही में छप्पर रहित झोंपड़ी दिखाई न देगी, महल तोड़े जावेंगे, झोंपड़ियां हवेलियों में परिणत की जावेंगी। धन और धरती का संसार के सभी मनुष्यों में बराबर बंटवारा होगा। सब सुख से रहेंगे। केवल धन के कारण किसी को बड़प्पन नहीं मिल सकेगा, क्योंकि एक के पास दूसरे से अधिक धन रहेगा ही नहीं।

इन्द्र—ठीक है, मनुष्यों में सुबुद्धि उत्पन्न हो और उनके समानता, स्वाधीनता और बन्धुता के प्रयत्न सफल हों। अब अग्नि देव ! आप अपना हाल कहिए।

अग्नि—मैं वडवाग्नि रूप से समुद्र में रहकर, संसार के लिए मणियां तैयार करता हूं, दावाग्नि के रूप से अन्याय से उपार्जित करने वाले अत्याचारियों की सम्पत्ति जलाकर भस्म कर देता हूं। जठराग्नि रूप से मदान्ध और लोलुपों में मन्दाग्नि उत्पन्न कर उनका संहार करता हूं और अकर्मण्यों को भूखा मार उनका नाश करता हूं, रण स्थल में अत्याचारियों और महत्त्वाकांक्षियों को भस्म करता हूं।

इन्द्र—आपकी नाशक शक्ति तो सब पर प्रकट है। कुछ पोषक-शक्ति के कार्य सुनाइये।

अग्नि—देवेश ! मैं प्रसन्न होने पर वनस्पतियों को तथा प्राणियों को बढ़ाता हूं, फल अन्न इत्यदि उपजाता हूं। मनुष्यों के खाने योग्य भोजन तैयार करता हूं और उसे पचाता हूं। मेरे बल से संसार में उजाला है। जहां कहीं अत्याचार परम सीमा पर होने लगता है, मैं निर्बलों में भी वह साहस और तेज भरता हूं कि उसके सामने चक्रवर्ती भी कांप उठते हैं।

इन्द्र—धन्य अग्नि देव ! धन्य !

(नेपथ्य में—"जय जय देवाधिराज" ! महाराज के दर्बार में गन्धर्व राज पधारते हैं)

(प्रवेश चित्रसेन गन्धर्व का)

चित्रसेन—त्राहि त्राहि ! देव शरणागत सेवक की रक्षा कीजिये महाराज !

इन्द्र—यह क्या चित्रसेन जी, यह क्या ? तुम्हारे राग रंग का ग्राहक कौन बन बैठा ?

चित्रसेन—प्रणत-पाल महाराज ! गत रात्रि को मैं कुटुम्ब सहित जल-क्रीड़ा करने गया था । जब मैं लौट कर स्वर्ग को आ रहा था तब मेरे मुंह का उगला पान अभाग से श्री गालव ऋषि की अंजलि में जा गिरा । मुनिराज मेरे अपराध की क्रोधभरी सूचना भगवान् श्रीकृष्ण को दे आये । उन्होंने कल सूर्यास्त तक मुझे प्राण-दण्ड देने की प्रतिज्ञा की है । देव ! आपके सिवा कोई त्राता नहीं है। भगवन् ! रक्षा कीजिये।

इन्द्र—वाह, तुझे लज्जा आनी थी । गालव ऋषि का तूने अपराध किया है और उनके तथा द्वारकाधीश के विरुद्ध मुझ से क्षमा मांगने आया है । केवल तेरे लिये अनेक जीवों का नाश हमें इष्ट नहीं।

चित्रसेन—नाथ ! तो क्या मेरी आशा व्यर्थ हुई ?

इन्द्र—व्यर्थ । मैं श्री कृष्ण से युद्ध नहीं कर सकता । जाओ अपने जीवन की रक्षा का और कोई उपाय करो, या मरो।

चित्रसेन—(जाते हुए...स्वगत)

हो सौ बार विश्व में हा हा ! अरी दासते तेरा नाश ।
इन मदान्ध कठपुतलों में हो स्वामि-भक्ति का क्योंकर वास।
धन्य वीर वे रखते जो अपना जीवन सदा स्वतन्त्र ।
फूंका नहीं किसी ने मुझ में जीवन का यह प्यारा मन्त्र ।
अब कहां जाऊं ? किस से कहूं ? क्या करूं ?
देवर्षि नारद को यह सम्वाद सुनाऊं।

इन्द्र—(स्वगत) दुखी का दुःख देख कर न पसीजे वह भी कोई हृदय है ? आश्रितों की रक्षा न कर सके वह भी कोई जीवन है ? मैं अपने कर्तव्य से भ्रष्ट हो रहा हूं। चित्त व्याकुल होता है ।
(प्रकट) देवगण ! समय बहुत हो गया, यह सभा विसर्जित हो ।

(सब का उठकर जाना)

(पटाक्षेप)

? चवां दृश्य

(स्थान—इन्द्रपुरी)

नारद—असम्भव जग में है क्या कहो ।
पृथ्वी पलट जायगी श्रम से दृढ़ होकर बस रहो।
सत्कार्यों पर प्राण चढ़ाओ निर्भय, हो या न हो !
कर्तव्यों में सब कष्टों से दृढ़तर बन कर रहो।

सोचो ही मत, करते रहो, सीधे सीधे रहो,
प्रण पर अड़े रहो, हां, मुख से माधव माधव कहो।

क्या इन्द्र अपनी भक्त-वत्सलता का दिवाला निकाल देगा ? वह देवराज है, देवराज बनने की शोभा भी इसी में है कि संसार में अत्याचार न हो। वह चाहे तो बहुत कुछ कर सकता है। किन्तु यदि उस ने रूखा उत्तर दिया तो (कुछ सोच कर) ठीक है, पाण्डवों के सिवा और कौन कृष्ण का मुकाबिला कर सकता है ?

(चित्रसेन का प्रवेश)

चित्रसेन—देवर्षि ! बचाइये। सब आशायें नष्ट हुईं। इन्द्र मेरी सहायता करने को तैयार नहीं। अब क्या करूं ?

नारद—(स्वगत) एक तो यों ही व्याकुल रहता है, तिस पर यदि वह दास हुआ तो फिर क्या ठिकाना है ? (प्रकट) चित्रसेन ! डर मत, प्रयत्न कर; जा, जा; अब तू समर-विजयी पांडवों की सभा में जा और उनसे आश्रय की प्रार्थना कर, वे तुझे कभी निराश न लौटावेंगे।

चित्रसेन—जो आज्ञा महाराज। (जाता है)

नारद—वाह रे नष्ट संसार ! जब प्राण लगा कर सेवा की तब अच्छा लगता रहा, अब रक्षा का समय आया तो स्पष्ट मनाही।

जो न दुखी के दुख को काटे ऐसे हृदयों को धिक्कार !
आश्रित की रक्षा न करें जो ऐसे नीचों को धिक्कार !

अत्याचारों को दृढ़ होकर हटा न सकते जो अधिकार !
क्यों न इन्द्र से होवें, उनको—गिनकर लाख बार धिक्कार !

कैसा समय है ! बली के कोप से सब अपना जी चुराते हैं, किन्तु,
मैं इस पथ से नहीं हटूंगा, अत्याचार हटाऊंगा।
नहीं डरूंगा हरि के भय से, उनका गर्व गिराऊंगा ॥
किन्तु शीघ्रता नहीं करूंगा, धीरे से सब साधूंगा।
उन्हें हराऊंगा पर पद-पंकज उनके आराधूंगा ॥
अच्छा, देखता हूं पाण्डव इस कसौटी पर कैसे ठहरते हैं। चलूं।

दानव-कुल-निशि-पतंग जय जय ।
खल-दल-पंकज-मतंग जय जय ॥
जल थल अनिल अनल नभ मय तव।
जग उपवन सविहङ्ग जय जय ॥

(जाते हैं)

(पटाक्षेप)

—माखनलाल चतुर्वेदी

२४

हार की जीत*

(१)

मां को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था और बड़ा बलवान् था। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे 'सुलतान' कह कर पुकारते,

---

* इस कहानी के लेखक श्रीयुत पण्डित सुदर्शन पहले पंजाबी हैं जिन्होंने हिन्दी गल्प रचना में अपने असाधारण कौशल द्वारा देश भर में प्रसिद्धि पाई है। आप का जन्म सं० १६५३ में स्यालकोट में हुआ। कथा लिखने में तो रुचि आप को विद्यार्थी अवस्था में ही हो गई थी। कालिज से निकल कर आप "हिन्दुस्तान" नामक उर्दू पत्र के सम्पादक विभाग में काम करने लगे। वहां से अलग होकर कई और उर्दू पत्रों में काम किया। सं० १६७६ तक आप केवल उर्दू भाषा में ही लिखा करते थे। अब आप ने हिन्दी में भी लिखने का प्रयत्न किया और पहली कहानी सं० १६७७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई जिसे हिन्दी जनता ने खूब सराहा। अब तक आप कई सौ कहानियां लिख चुके हैं।

आप की कहानियां सरल, स्वाभाविक और मनोरंजक होने के अतिरिक्त भावगर्भित भी होती हैं। आपकी भाषा में उर्दू की पुट पाई जाती है।

कहानियों के अतिरिक्त आप दस पन्द्रह पुस्तकें भी लिख चुके हैं। कुछ समय हुआ आपने रामायण का चित्रपट तय्यार किया था। हाल ही में आप का "भाग्य चक्र" नाटक छपा है।

अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते और देख देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब जमीन यहां तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गांव से बाहर छोटे से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे—परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूंगा—उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वे उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घनघटा को देख कर नाच रहा हो। गांवों के लोग इस मोहमाया को देखकर चकित थे; कभी २ कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक सन्ध्या समय सुलतान पर चढ़ कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुनकर कांपते थे। होते होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुंची। उस का हृदय उसे देखने के लिये अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुंचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह, क्या हाल है?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो, इधर कैसे आ गए?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, प्रसन्न हो जाओगे"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूं।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुंचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमण्ड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बांका घोड़ा उसकी आंखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिये था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या मतलब ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी, बालकों की सी अधीरता से बोला—"परन्तु बाबा जी, इसकी चाल न देखी तो क्या देखा ?"

बाबा जी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिये उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोल कर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक कर सवार हो गये। घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देख कर, उसकी गति देख कर, खड्गसिंह के हृदय पर सांप लोट गया। वह डाकू था और जो वस्तु उसे पसन्द आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, रुपया था और आदमी भी थे। जाते जाते बोला "बाबा जी ! मैं यह घोड़ा आप के पास न रहने दूंगा।"

बाबा भारती डर गए। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अ :ा बल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता,

परन्तु कई मास बीत गए और वह न आया। यहां तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

(२)

सन्ध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आंखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रङ्ग को और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कङ्गले की भी बात सुनते जाना।

आवाज में करुणा थी बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूं। मुझ पर दया करो। रामांवाला यहां से तीन मील है, मुझे वहां जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहां तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आप ने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूं।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसका लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका सा लगा और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तन कर बैठा है और घोड़े को दौड़ाये लिए जा रहा है तो उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे और इसके पश्चात् कुछ निश्चय कर के पूरे बल से चिल्ला कर बोले—ज़रा ठहर जाओ!

खड्गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—"बाबा जी यह घोड़ा अब न दूंगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आंखों से देखा, जैसे बकरा क़साई की ओर देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका! मैं तुम से इसे वापिस करने के लिए न कहूंगा। परन्तु खड्गसिंह! केवल एक प्रार्थना करता हूं; उसे अस्वीकार न करना, नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी आज्ञा कीजिये। मैं आप का दास हूं; केवल यह घोड़ा न दूंगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो। मैं तुम से इसके विषय में कुछ न कहूंगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुंह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर भागना पड़ेगा परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इस से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा, परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आंखें बाबा भारती के मुख पर गाड़ कर यों और पूछा—"बाबा जी; इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया; तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुंह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गए; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूंज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं? कैसा पवित्र भाव है? उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूंगा। इसकी रखवाली में वे कई रातें सोए नहीं। भजन भक्ति के बदले रखवाली करते रहे। परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछवार कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।

(३)

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुंचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गांवों के कुत्ते

झांकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुये था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुंचा। फाटक किसी वियोगी की आंखों की तरह चौपट खुला हुआ था। किसी समय वहां बाबा स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे, परन्तु आज उन्हें किसी चोरी या किसी डाके का भय नहीं था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवाह कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़ कर सुलतान को उसके स्थान पर बांध दिया; और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द किया। इस समय उस की आंखों में पश्चात्ताप के आंसू थे।

अन्धकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पांव अस्तबल की ओर मुड़े परन्तु फाटक पर पहुंच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ ही घोर निराशा ने पांव को मन-मन भर का भारी बना दिया, वे वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पांवों की चाल को पहचान लिया और वह जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अंदर घुसे और अपने घोड़े के गले से लिपट कर इस प्रकार रोने लगे जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिल कर रोता है। बार बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते; बार बार उसके मुंह पर थपकियां देते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुंह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वे अस्तबल से बाहर निकले; तो उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे, ये आंसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे जहां बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आंसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

(श्रीयुत पं० सुदर्शन)

२५

स्वर्गीय सर गंगाराम

पंजाब के प्रसिद्ध कर्मवीर सर गङ्गाराम अब इस संसार में नहीं रहे। १० जुलाई सन् १९२८ की रात को हृदय की गति रुक जाने से आपका लन्दन में परलोकवास हो गया। आप वहां शाही कृषि कमीशन के सदस्य होकर गए थे। मृत्यु के समय आपकी उम्र ७७ वर्ष की थी। आप केवल एक सफल इञ्जीनियर तथा राजमान्य नर-रत्न ही नहीं थे किन्तु अनाश्रितों के आश्रय; अनाथों के नाथ और निर्धनों के बन्धु थे। आपकी मृत्यु से भारत का एक अनुपम कर्मवीर दानी और समाज-सुधारक उठ गया।

गंगाराम का जन्म सन् १८५१ के मई महीने में शेखूपुरा ज़िले के सिक्ख गुरुद्वारे में हुआ था। आप के पिता लाला दौलतराम उस समय यात्रा में थे। लाला दौलतराम अमृतसर में कोर्ट-इंस्पेक्टर थे। आप अग्रवाल वैश्य थे और सहारनपुर जिले के निवासी थे। साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। ऐसे ही परिवार में गंगाराम जी का जन्म हुआ था।

गङ्गाराम जी को उनके पिता ने अंगरेजी की शिक्षा दी। जब सन् १८६८ में आप इंट्रन्स पास हो गए तब नौकरी की खोज में आप लाहौर गये। वहां आपके कुल-परोहित एक आफ़िस में नौकर थे। एक दिन आप उनसे मिलने

आफिस गये। उस समय पुरोहित जी आफिस में मौजूद नहीं थे। अतएव गङ्गाराम जी आफिस में जाकर एक खाली कुर्सी पर बैठ गये। वह कुर्सी इञ्जीनियर साहब की थी। जब इञ्जीनियर साहब आये तब उन्होंने गङ्गाराम जी को कुर्सी पर से उठा दिया। अपनी भूल मालूम होने पर आप बड़े लज्जित हुये। इतने में पुरोहित जी भी आ गये। उन्होंने आप से पूछा कि क्या करना चाहते हो? गङ्गाराम जी ने कहा कि मैं तो अब इञ्जीनियर बनूंगा। यह कह कर गङ्गाराम जी वहां से चले आए और अपने निश्चय के अनुसार रुड़की के टामसन कालेज में भर्ती हो गए।

सन् १८७३ में गङ्गाराम जी ने इञ्जीनियरी पास कर ली। अतएव लाहौर के पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट के पूर्वी-विभाग में आप असिस्टेंट इञ्जीनियर के पद पर नियुक्त किये गए। कहते हैं कि आपने उसी इञ्जीनियर से अपने पद का कार्य-भार ग्रहण किया था जिसने आपको पांच वर्ष पहिले अपनी कुर्सी पर से उठा दिया था। आपने अपनी कार्यकुशलता से अपनी योग्यता का परिचय अधिकारियों को दो ही वर्षों के भीतर प्रदान कर दिया। अधिकारी आपके कार्य से इतना अधिक सन्तुष्ट थे कि जब सन् १८७५ में प्रिन्स आफ़ वेल्स भारत में आए तब लाहौर में युवराज के स्वागत का प्रबन्ध सरकार ने आपको ही सौंपा था। आपके प्रबन्ध से अधिकारी इतना अधिक संतुष्ट हो गये कि दिल्ली में सन् १८७७, सन् १९०३ और सन् १९११ में जो जो शाही दरबार बाद को हुए उन सब में आप प्रबन्धक इञ्जीनियर बनाये गए। १८७७ के दरबार की रङ्गभूमि आपने ऐसी सुन्दर बनाई थी कि सरकार ने उसके लिये आपको धन्यवाद दिया था। इसी प्रकार सन् १९०३ के दरबार के समय लार्ड कर्ज़न ने आपकी बड़ी प्रशंसा की, और सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की। सन् १९०३ के दरबार के समय आपने जो कारगुजारी की थी उसका एक उदाहरण लीजिये। दरबार के दो दिन पहले रङ्गभूमि को आने वाली एक सड़क की दशा बदल देने का

हुक्म लार्ड कर्जन ने एकाएक दे दिया, परन्तु मार्ग में एक नाला पड़ता था। सभी अफसर सोच में पड़ गये कि इतने अल्प समय में नाले पर पुल कैसे बनाया जाय ? अन्त में लार्ड कर्जन ने कहा कि गङ्गाराम को बुलाओ, वे सब ठीक कर देंगे। अधिकारियों ने आपको बुलाकर लार्ड कर्जन का आदेश सुनाया। आपने कहा कि मैं आज्ञा पालन करने का पूरा प्रयत्न करूंगा। आप ने बाजार से बड़े बल्ले मगवा कर रातों रात पुल बनाकर तैयार करवा दिया। प्रातःकाल नाले पर पुल बना देख लोग चकित रह गये। आपके ऐसे ही कामों से लार्ड महोदय आप से प्रसन्न हुए थे। आप में कार्यकुशलता के साथ साथ कार्य-तत्परता भी खूब थी।

धीरे धीरे गङ्गाराम को सुपरिंटेंडेंट-इञ्जीनियर का भी पद मिला। अभी तक यह पद भारतीयों को नहीं मिलता था। और इसी नियम से सम्भवतः आप इस पद पर मुस्तकिल नहीं किये गए। अंत में अपनी कार्यकुशलता से अपने पद का कार्य-काल नेकनामी के साथ व्यतीत किया। सरकार ने भी आपका समुचित समादर कर अपनी गुण-ग्राहकता का यथेष्ट परिचय दिया। अन्त में सन् १९०३ में आप ने पेंशन ले ली और पटियाला राज्य में चीफ इञ्जीनियर के पद पर सन् १९१० तक काम करते रहे।

यह तो उल्लेख हुआ सर गङ्गाराम के नौकरी के समय के कार्य-कलापों का। अब आप की उन बातों का उल्लेख किया जाता है जिनके लिए आप वास्तव में विख्यात हुए हैं। सब से पहले हम आपकी कृषिसम्बन्धी योजना का ही परिचय देंगे।

पेंशन के बाद सरकार से आपको लोअर चेनाब नहर पर २० वर्ग एकड़ भूमि माफी मिली थी। इस भूमि में आपने वैज्ञानिक ढंग से खेती करने का काम

जारी किया। आप अपने इन प्रयत्न में सफल ही नहीं हुए; किन्तु आप को यथेष्ट लाभ भी हुआ। अपनी सफलता से प्रोत्साहित होकर आपने बड़े पैमाने पर खेती के काम का निश्चय किया। आपने कुछ ऐसी जमीन ली जहां नहर का पानी नहीं जा सकता था। सरकार ने आप से शर्त की थी कि यदि आपको इस भू-भाग में खेती कर लेने में सफलता मिल जायगी तो वह आपको इस भूमि का स्वामी स्वीकार कर लेगी। सर गंगाराम ने इस भू-भाग में कुछ की भाफ की शक्ति से और कुछ की बिजली की शक्ति से सिंचाई का प्रबन्ध किया। आप आपने इस प्रयत्न में भी सफल हुए। अपने उपर्युक्त दोनों कृषि-क्षेत्रों में जिस वैज्ञानिक पद्धति को कार्य रूप में परिणत किया, उसकी कृषि के विशेषज्ञों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अपनी योजनाओं में सफलता प्राप्त करने पर सर गंगाराम कृषि-कार्य को और भी अधिक विस्तृत रूप देने के लिए उत्साहित हुए। आप को अवसर भी मिल गया।

पञ्जाब के तत्कालीन छोटे लाट सर माईकेल ओड्वायर ने महायुद्ध के लिए भर्ती होने वाले रंगरूटों को युद्ध से लौटने पर खेती के लिए जमीन देने के वादे किये थे। सन् १९१७ में लाट साहब को मालूम हुआ कि खेती के योग्य पञ्जाब में इतनी भूमि भी सरकार के पास नहीं है कि आधे भी वादे पूरे किये जा सकें। उन्होंने अपनी आशङ्का सर जान मेनार्ड से प्रकट की। सर जान मेनार्ड ने सर गङ्गाराम से सलाह ली। आप दो दिन के बाद उत्तर देने का वादा करके चले गये। तीसरे दिन आपने आकर एक प्रस्ताव उपस्थित किया। आपने सरकार से २३ हजार एकड़ भूमि किसी ऐसे ऊंचे स्थान में मांगी जिसकी सिंचाई लिफ्ट द्वारा हो सके। आपने यह भी कहा कि उस भूमि को कृषि योग्य बनाकर सिंचाई की कलों आदि के सहित तीन वर्ष बाद सरकार को वापिस कर दूंगा। सरकार तो ऐसा चाहती ही थी। सर गङ्गाराम बम्बई से ५० हजार रुपये में आवश्यक यन्त्र-सामग्री खरीद कर तत्काल अपने काम में लग गये, और उस भू-भाग को तीन साल के भीतर कृषि के योग्य ही नहीं बना डाला, किन्तु उन्होंने उसमें वैज्ञानिक ढङ्ग से खेती करके

लाभ भी उठाया। तीन साल पूरे हो जाने पर आपने वह ज़मीन युद्ध से लौटे हुए सैनिकों को देने के लिए सरकार को लौटा दी।

अपनी उपर्युक्त कृषि-सम्बन्धी योजनाओं की सफलता देख कर सर गङ्गाराम अधिक उत्साहित हुए। आपने सरकार से ७ वर्ष के लिए एक बड़ा भू-खण्ड ठेके पर लिया। इसमें सिंचाई के लिए बिजली की कल लगाई। रिनालाहैड्रो इलैक्ट्रिक स्कीम नाम से आप की योजना प्रसिद्ध है। इस योजना से १२५ वर्ग माल भूमि की सिंचाई का अनुमान किया गया था और इसका खर्च ३० लाख रुपया किया गया था। इस योजना में ७२ मील लम्बी नहर, ६२५ मील लम्बी जल पहुंचाने वाली नालियां और ४५ पुल बने। इनके सिवा ५६५ मील लम्बी सड़कें और १२१ मील लम्बी सरहद्दी सड़कें बनीं। इस योजना को कार्य में परिणत कर सर गंगाराम ने इस देश में वैज्ञानिक ढंग से खेती करने का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

परन्तु सर गंगाराम ने एक काम इससे भी बढ़कर किया है और वह आपका ट्रस्ट है जिसे आपने सन् १९२३ में स्थापित किया था। उस समय आपने इस ट्रस्ट को ३० लाख रुपये की सम्पत्ति प्रदान की थी। आपका यह ट्रस्ट जिन संस्थाओं का सञ्चालन कर रहा है, उनके नाम इस प्रकार है—

(१) सर गङ्गाराम खैरायती हस्पताल—यह एक ऊंचे दर्जे का हस्पताल है। हस्पताल में रोगियों के रहने का भी प्रबन्ध है। चीर-फाड़ का भी काम इसी में होता है। इसके लिए रु० ३३,५००) वार्षिक मिलता है।

(२) विधवा-विवाह सहायक सभा—यह सभा विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रबन्ध करती है। इसकी शाखायें देश के सभी प्रान्तों में हैं। इसके पास वैतनिक तथा अवैतनिक उपदेशक हैं। इसे रु० २६,५००) वार्षिक मिलता है।

(३) हिन्दू-स्टूडेंट्स-कैरियर-सोसायटी—जो हिन्दू छात्र अपनी जीविका के लिए कोई कला सीखना चाहता है उसे यह वृत्ति देती है। इसे रु० ११,२००) वार्षिक मिलता है।

(४) हिन्दू अपाहिज-आश्रम—यह अपाहिजों को सहायता देने और भिक्षा-वृत्ति दूर करने के लिए स्थापित हुआ है। इसे रु० ६,०००) वार्षिक मिलता है।

(५) इंडस्ट्रियल-शाप—यह दुकान निर्धन हिन्दू विधवाओं तथा अन्य स्त्रियों की सहायता के लिए खोली गई है। यह दुकान उन्हें घर पर काम करने के लिए काम देती है और उनकी बनाई हुई चीजें उनसे खरीद कर स्वयं बेचती है। इसे रु० ५,६००) वार्षिक मिलता है।

(६) लाहौर तथा अन्य स्थानों की विधवाओं और गरीबों को मासिक वृत्ति का देना। इसके लिए रु० १०००) वार्षिक मिलता है।

उक्त ट्रस्ट की वार्षिक आय लगभग सवा लाख रुपया है, जो उपर्युक्त संस्थाओं के सञ्चालन में व्यय होता है। सर गङ्गाराम विलायत जाने से पहले अपना विल लिख कर इम्पीरियल बैंक के सुपुर्द कर गये थे। अब यह निकाला गया है। उसके अनुसार उपर्युक्त ट्रस्ट को ११ लाख रुपए और मिले हैं, जिससे इस ट्रस्ट के पास ४० लाख की सम्पत्ति हो जायगी।

सर गङ्गाराम ने अपनी कमाई का अधिकांश परोपकार में ही लगा दिया है। उपर्युक्त ट्रस्ट के सिवा आपने हिन्दू, सिक्ख और इतर जातीय स्त्रियों के लिए लाहौर में 'लेडीमेनार्ड इंडस्ट्रियल स्कूल तथा विधवा आश्रम' की भी स्थापना की है। इसके सिवा आपके द्वारा वैज्ञानिक तथा कृषि सम्बन्धी कितनी ही संस्थाओं की स्थापना हुई है। ऐसे परोपकाररत महात्मा का भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो जाय, परन्तु उनका यशः शरीर सदैव बना रहेगा।

"कीर्तिर्यस्य स जीवति।"

—:o:—

२६

मेरी कैलाश-यात्रा

अल्मोड़े से कैलाश की ओर जाने में पहले बागेश्वर आता है। मैं कई साथियों के साथ अल्मोड़े से चला हुआ पहाड़ी दृश्य देखता हुआ, पहाड़ी नालों की गड़-गड़ सुनता हुआ, आनन्द से जा रहा था। हम कहीं नाले के किनारे-किनारे जा रहे थे, कहीं वृक्षों से घिरे हुए ठण्डे मार्ग से। कहीं दोनों ओर लम्बे-लम्बे चीड़ के वृक्षों की सर-सर ध्वनि सुनाई देती थी। कहीं बिलकुल नीचे नीचे की ओर उतर रहे थे, कहीं थोड़ा चढ़ाव था। दस बजे के लगभग एक ऊंची चढ़ाई के पास पहुंचे। यहां से डेढ़ मील विकट चढ़ाई थी। धीरे-धीरे कई जगह दम लेते हुए पहाड़ के ऊपर पहुंचे और उस चढ़ाई को पार किया। मार्ग में पसीने से नहा गया। जब चढ़ाई समाप्त हुई तब ठण्डे पानी की धार मिली। वहां बैठ कर दम लिया और जल पिया। ठण्डा बर्फानी जल क्या स्वाद देता था। वाह! यहां से फिर दो एक लोगों को साथ लिया और बड़े विकट रास्ते को पार करते बागेश्वर पहुंचा। बागेश्वर में सरयू नदी का दृश्य दिखाकर वहां की कुछ बात बतलाना है। दोनों ओर दूर तक लम्बी, ऊंची, हरी हरी पहाड़ियों के बीच चौरस घाटी में आप अपने आप को चढ़ा हुआ समझिये। उसी घाटी के बीच पत्थरों को रगड़ती हुई सरयू नदी बह रही है। पिता हिमाचल की गोद से

निकल कर अपनी सहचरियों के साथ टेढ़े मेढ़े चक्कर काटती हुई सरयू मस्तानी चाल से बागेश्वर में पहुंचती है। यहां पश्चिम से आने वाली बहिन अपनी गोमती के स्वागत के लिये अपनी चाल धीमी कर, बड़े प्रेम से उसकी ओर निहारती है। फिर वेग से आगे बढ़ कर भगिनी का मुख चूमती है ? आह ! क्या सुन्दर दृश्य है। सरयू के किनारे पश्चिम की ओर पीठ कर खड़े होने से सामने निकट चण्डी पर्वत के दर्शन होते हैं। उसके ऊपर चंडी महारानी का मन्दिर है। पीछे पश्चिम में नील पर्वत अपनी छटा दिखलाता है। इस पर भगवान् नीलेश्वर विराजमान हैं। पूर्व से भागीरथी की धारा आकर सरयू जी का चरण छूती है। भागीरथी और सरयू मिल कर वहां गोमती से भेंट करती हैं।

वहां संगम पर बोधनाथ जी का प्राचीन मन्दिर है। यहां मकर संक्रान्ति (१३ जनवरी) को बड़ा भारी मेला होता है। बागेश्वर सरयू जी के दोनों किनारों पर बसा है। दोनों किनारों पर आमने सामने दुकानें हैं । दो पुल बने हैं, एक गोमती पर दूसरा सरयू पर। बागेश्वर में पुल के पास ऊंचे पत्थर पर बैठ कर मैंने सरयू जी की छटा देखी। स्नान का बड़ा आनन्द आया। बागेश्वर में तीन दिन रहा। सरयू जी का स्नान नहीं भूलेगा। अवध-वासियों को चाहिये कि बागेश्वर में जाकर सरयू का विचित्र आनन्द लूटें। इधर की छटा ही निराली है। जून ११ सोमवार सवेरे छः बजे के बाद बागेश्वर से चला। मेरे प्रेमियों ने मेरा सामान-बिस्तरा और फूलों की थैली उठाने के लिए कुली खोज दिया था। मैंने सब से 'वन्दे' कहा, फिर छतरी कमण्डलु और लम्बी लाठी उठा सड़क पर हो लिया। इतने में घनघोर घटा छा गई, वर्षा होने लगी। सरयू जी का पहाड़ी राग सुनते जा रहे थे। मार्ग बुरा है। कहीं नदी के किनारे किनारे, कहीं दूर हो गया है। वर्षा से सड़क और भी बिगड़ गई। भागते भागते सात मील पूरे किये, और कपकोट पहुंचे। पककोट से सवेरे दुग्ध पान करके चला। दोनों साधु कार्यवशात् पीछे रह गये। कुछ सज्जन दूर तक पहुंचाने के लिये साथ आए। सरयू के किनारे किनारे प्रकृति माता के दृश्यों का

आनन्द लेता हुआ मैं चला। कपकोट से तीन मील तक सरयू-घाटी का दृश्य बड़ा ही मनोहर है। हरित पहाड़ियों पर गाय बकरी चर रहे थे, किनारे-किनारे जहां घाटी चौड़ी हो गई है, भूमि मखमली घास से लदी हुई बड़ी सुहावनी दीख पड़ती थी। नदी का पाट चौड़ा है, पर जल कम था, क्योंकि अभी वर्षा आरम्भ नहीं हुई थी। आकाश निर्मल था। आनन्द में मग्न मैं चला जा रहा था। सामने गायें भैंसें रास्ते में खड़ी थीं। उनके साथ मैले कुचैले कपड़े पहने चरवाहे भी थे। लाठी से मैंने अपने लिये रास्ता किया। गाय बहुत छोटी-छोटी और चरवाहे भी छोटे छोटे थे। ऐसे सुन्दर सुहावने जल-वायु में इनकी ऐसी दुर्दशा देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ।

इधर की गायें आध सेर तीन पाव दूध देती हैं, और छोटी होती हैं। हिमालय तो विशाल, उनकी नदियां भी वही हैं। परन्तु पहाड़ी मनुष्य और पशुओं पर अधःपतन ने पूरा प्रभाव डाला है। पुस्तकों में पढ़ा करते थे कि पहाड़ी आदमी वीर, उत्साही और स्वतन्त्रता-प्रिय होते हैं। पर इधर के पहाड़ियों में इन गुणों का सर्वथा अभाव है। सैंकड़ों वर्ष के दासत्व ने इनका मनुष्यत्व नष्ट कर दिया है। दासता इनकी मुखाकृति पर झलक रही है। पर सरयू अपनी उसी पुरानी चाल से, अपने उसी यौवन-मद से लड़ती झगड़ती जा रही है। उसको अपने काम से काम। सड़क के किनारे किनारे ठण्डे स्रोतों का जल यात्री की प्यास को दूर करता है। तीन मील पूरे हो गये। सरयू जी की घाटी छोड़ कर जोहार का रास्ता पकड़ा। यहां दो पथ हैं, एक तो पिंडारा ग्लेशियर को जाता है, दूसरा कैलाश की ओर को गया है। मैं और मेरा कुली दाहिने रास्ते हो लिये। नाले के किनारे किनारे चले। यहां पर मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि पानी सभ्यता प्रचार करने वाला बड़ा भारी इंजिनीयर है। पहाड़ों को काट कर रास्ता बनाने वाला और सभ्यता फैलाने वाला जल है। कैसे कैसे पर्वतों को इसने काटा है। कहां कहां की मिट्टी लाकर यह खेत बनाता है। दुर्गम हिमालय में

मार्ग बनाना इसी का काम है। नाले के किनारे किनारे सुन्दर सड़क बनी हुई है। बादल आ जाने से ठंडा हो गया था। छोटे छोटे दस - पांच घरों के ग्राम कई देखने में आए। स्थान स्थान पर हरे धान लहलहा रहे थे। पहाड़ी लोग जहां थोड़ी सी भूमि मिली वहीं खेती कर लेते हैं। वे बेचारे इसी पर जीवन-निर्वाह करते हैं। मैं आज जुराब पहन कर नहीं चला था, इसलिये मच्छरों ने कष्ट दिया। यात्री को चाहिए कि कपकोट से जुराबें पहर ले। जुराबें घुटनों तक हों। दो चार साथियों के साथ यात्रा करे तो अच्छा है, क्योंकि आज कल यह रास्ता बहुत कम चलता है। कोई पथिक रास्ते में नहीं मिलता, इसलिये उन बन्धुओं को जो नगर में रहने वाले हैं, ऐसे निर्जन पथ में भय लगेगा। यद्यपि डर किसी जीव-जन्तु का नहीं, और न लूट खसूट ही का भय है, पर दृश्य बड़े वन्य हैं। 'एकान्त' इस शब्द की सार्थकता बोध होने लगती है, और नास्तिक भी अनास्तिक बनने की इच्छा करने लगता है।

नौ मील चल कर चढ़ाई मिली। धीरे धीरे पग पग चढ़ना आरम्भ किया। थोड़ी दूर चढ़ता, थक जाता। किसी प्रकार उन दो मीलों को पूरा किया। शामाधुरा के निकट पहुंचे। स्वागत के लिये दो सज्जन आगे से खड़े थे। बड़े प्रेम से ले गए और अपनी दुकान पर ले जाकर ठहराया, सेवा की। आह वह मनुष्य कैसा भाग्यवान है जिस की यात्रा पूरी होने पर प्रेमी सज्जन अगुवानी करते हैं, और मीठे मीठे शब्दों से उसकी थकावट दूर कर देते हैं। अमरीका में जब मैंने ३०० मील की यात्रा की थी तो ४७ मील एक दिन पैदल चला, मगर मंजिल पूरी होने पर न रहने का ठिकाना, न खाने का प्रबन्ध, न पैसा पास। वे दिन कैसे कटे थे कभी भूलने वाले नहीं। डेढ़ घंटे बाद उदासी साधु भी पहुंच

गया। स्नान किया, पत्र लिखे, कुछ विश्राम किया। चारसीनाथ भी धीरे धीरे आ पहुंचा। यह दोनों महाशय थे निरे मूर्ख, काला अक्षर भैंस बराबर था। चारसीनाथ तो अवस्था में बड़े होने के कारण कुछ सभ्य भी था, उसे कुछ सत्सङ्ग भी हो चुका था। पर उदासी साधु तो निरा गंवार, पंजाबी जाट था। सिवा खाने पीने की बात के दूसरी चर्चा न थी। मैंने आज उसे देवनागरी वर्णमाला के पहले छः अक्षर सिखाये। उसकी आवाज अच्छी, मीठी थी ! इसलिए मैंने चाहा कि कुछ देश-हित-सम्बन्धी भजन सिखा कर इस से काम लिया जावे, पर उसकी स्मरण शक्ति बड़ी ही खराब थी। वह भजन कण्ठ नहीं कर सकता था। दो घंटा सिर खपा कर हार कर मैंने उसे छोड़ दिया। क्या करता ? थके हुए यात्री से पत्थर में छेद नहीं हो सकता। रात को अच्छी तरह नींद नहीं आई। जहां मैं सोया था वहां बहुत से चूहे कबड्डी खेलने लगे। उनको मैंने बहुतेरा मना किया, पर वे मूसरचन्द कब मानने वाले थे।

(स्वामी सत्यदेव)

२७

कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बङ्गाल में जोड़ासांको (कलकत्ता) का ठाकुरवंश बहुत प्रसिद्ध है। अनेकानेक मनीषी इसका मुख उज्ज्वल कर चुके हैं और कर रहे हैं। समाज-सुधार, चित्रकला, साहित्यसेवा आदि में इन ठाकुरों के समकक्ष बङ्गाल में—और बङ्गाल ही क्यों, सारे भारतवर्ष में—शायद ही कहीं मिलेंगे। यों तो एक विषय के पारदर्शी लोग एक कुल में बहुत से मिल सकते हैं, पर इस ठाकुर कुल की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अनेकानेक विषयों के पारदर्शी लोगों का एकत्र समावेश है। पुरुषों की बात ही नहीं, इस कुल की महिलाएं भी उत्कृष्ट लेखिका और शिल्पी हैं। सच तो यह है कि यह कुल धन, जन, विद्या और यश से परिपूर्ण है। इसी प्रख्यात कुल में रवीन्द्रनाथ ने सन् १८६० ई० में जन्म लिया। आप ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कनिष्ठ पुत्र हैं। बहुत छोटी उम्र में ही आप विद्यालय में दाखिल हुए, पर "पृथ्वी के अधिकांश कवियों की तरह आप को सरस्वती माता के पद्मवन के प्रति शैशवावस्था से ही लोभ था, परन्तु उनके कमल सरोवर के तीर पर गुरु महाशय के द्वारा अधिराजित जो वेत्रवन कण्टकित हो विराजता है, उससे आप बहुत डरते थे।" विद्यालय का जीवन रवीन्द्रनाथ के लिए बहुत सुखकर नहीं हुआ। आप स्वयं कहा करते हैं कि वह जीवन "दुःसह जीवन" था। विद्यालय में आप ने कुछ भी नहीं सीखा, पर बाल्यावस्था से ही आप को बङ्गला पढ़ने का बड़ा

शौक़ था। इस कारण पाठशाला के पाठों पर समुचित मनोयोग नहीं देने पर भी वंग-साहित्य के प्रायः सभी ग्रन्थों को आपने पढ़ डाला। कुछ समय बीतने पर आप बङ्गला पाठशाला से निकल कर अङ्गरेज़ी स्कूल में दाख़िल हुए। यहां कुछ दिन होने पाए थे कि रवीन्द्रनाथ के पिता जी ने उन्हें हिमालय ले जाने का प्रस्ताव किया। आप छुटपन ही से प्रकृति नीरीक्षण से प्रेम रखते थे। अतएव हिमालय-दर्शन के भावी आनन्द को सोच कर आप बहुत आह्लादित हुए और खुशी खुशी पिता जी के सहगामी हुए। हिमालय से लौटने के कुछ ही समय बाद आपको मातृवियोग का दुःसह दुःख भोगना पड़ा। इस समय आपकी उम्र केवल बारह वर्ष की थी। विद्यालयों के प्रति आपको पहले ही से अभिक्त थी, मातृवियोग के कारण उन्हें स्कूल में भेजना और भी कठिन हो गया। इस समय आपकी शिक्षा घर ही पर होने लगी। हिमालय-भ्रमणकाल में आपने पिता जी से कुछ संस्कृत और ज्योतिष सीखा था, पर बङ्गला पाठ में तनिक भी विराम नहीं हुआ था। आपके शिक्षकगण अन्यान्य विषयों में शिक्षा देने से हताश होकर अन्त में उन्हें संस्कृत और अंगरेज़ी के काव्यों और नाटकों का अनुवाद सुनाया करते। घर में साहित्यचर्चा का अभाव नहीं था। उन दिनों अंगरेज़ी के विद्वान् स्वर्गीय अक्षय चौधरी महाशय और स्वर्गीय बिहारीलाल चक्रवर्ती महाशय रवि बाबू के घर में प्रायः आया जाया करते थे और वहां नाना प्रकार की साहित्यालोचना में प्रवृत्त होते थे। उनके मुख से अंगरेज़ी की आवृत्ति और व्याख्या सुनते सुनते रवीन्द्रनाथ का कल्पना प्रवण-चित्त बहुत सा खाद्य संग्रह किया करता था।

जैसी साहित्य चर्चा वैसी संगीत चर्चा भी होती थी। इस कारण छुटपन ही से आपका मन क्रमागत गान सुनते सुनते संगीत की उस अनिर्वचनी-यता के राज्य में घूमा करता था जो उनकी कविताओं में आज भी लक्षित होती है।

निरन्तर साहित्य चर्चा और संगीत चर्चा के मध्य प्रतिपालित होने के कारण रवि बाबू की कवित्व-शक्ति बहुत छोटी उम्र में ही दिखलाई दी। विद्यापति आदि प्रसिद्ध वैष्णव कवियों की कविताओं को पढ़कर आप ऐसे मुग्ध हो गये थे कि उनका अनुकरण कर आपने कितनी ही कविताएं रच डाली थीं। इस समय आपने अपना नाम "भानुसिंह" रखा था। जब आप सोलह वर्ष के थे तब "भारतीय" नामक एक मासिक पत्रिका आपके घर से निकली। आपकी बहुत सी बाल्य-रचनाएं इसमें प्रकाशित हुई थीं। एक वर्ष बाद अर्थात् जब आप सत्रह वर्ष के हुए तब आप विलायत गये। इसके कुछ दिन पूर्व आप अपने मध्यम भ्राता श्रीयुत सत्येन्द्रनाथ ठाकुर के साथ कुछ समय अहमदाबाद में थे। इन दिनों आप अंगरेजी साहित्य के बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ते और उनके भाव अवलम्बन कर बंगला में लेख लिखा करते थे। विलायत में थोड़े दिन रहकर आप भारत लौट आये। लौटते समय जहाज़ में आपने "भग्नहृदय" का कुछ अंश लिखा था। भारत आने पर यह समाप्त होकर प्रकाशित हुआ।

जिस समय रवीन्द्रनाथ विलायत में थे, उनको बैरिस्टर होने की बड़ी इच्छा हुई थी, पर जैसे ही आप बैरिस्टरी पढ़ने के आयोजन में लगे, कि उनके पिता ने उन्हें घर बुला लिया। इस कारण उनके कई मित्रों ने इनके पिता जी के पास दुःख प्रकाश कर एक पत्र भेजा और उनसे अनुरोध किया, कि वे रवीन्द्रनाथ को फिर भी विलायत भेज देवें। फल यह हुआ कि आप द्वितीय बार विलायत के लिये रवाना हुए, पर किसी कारण मद्रास ही से लौट आये। लौट आने पर पहले पिता जी के निकट मंसूरी गए, बाद चन्दननगर में आकर अपने भाई श्रीयुत ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के साथ रहने लगे। "सन्ध्या-संगीत" का कुछ अंश यहीं लिखा गया था। रवीन्द्रनाथ का विशेषत्व पहले "सन्ध्यासंगीत" में ही देखा गया था। यह इसकी भाषा, छन्द और भाव से स्पष्ट है। आप स्वयं कहते हैं कि "सन्ध्यासंगीत" में आपने प्रचलित छन्दों

का त्याग और अपनी इच्छा के अनुसार नए नए छन्दों का उपयोग किया है। इसी संगीत में आपने अपने निज का सुर पहले पहल अलापा है। चन्दननगर में गंगा के किनारे बैठकर आपने बहुत सा गद्य भी रचा था। यह "विविधप्रसंग" के नाम से "भारती" में निकला था।

चन्दननगर से रवीन्द्रनाथ कलकत्ते आये और चौरंगी में रहने लगे। यहां आप के भाव में अकस्मात् परिवर्तन हुआ और "सन्ध्यासंगीत" की अधीरता और अवसाद "प्रभात संगीत" के आनन्दोद्‌गार में परिणत हुए। इस भावव्यतिक्रम को लक्ष्य कर आपने अपनी "जीवनस्मृति" में लिखा है—

"सदर स्ट्रीट का रास्ता जहां जाकर समाप्त हो गया था, वहीं पर फ्री स्कूल के उद्यान के गाछ नजर आते थे। एक दिन सुबह को बराण्डे में खड़े होकर मैंने उस ओर देखा। उस समय गाछ की पत्तियों के अन्तराल में सूर्य उदय हो रहा था। देखते देखते हठात् एक मुहूर्त में मेरी आंखों पर से मानो एक परदा हट गया। मैंने देखा कि विश्व संसार एक अपरूप महिमा से समाछन्न है, आनन्द और सौन्दर्य से सर्वत्र तरंगायित हो रहा है, मेरे हृदय के प्रत्येक स्तर में जो एक विषाद का आवरण था उसे एक निमेष में भेद कर विश्व का आलोक मेरे सारे अन्तःकरण में व्याप्त हो गया। उसी दिन "निर्झर स्वप्नभंग" नाम की कविता निर्झर की तरह प्रवाहित होने लगी। लिखना समाप्त हो गया, पर उस आनन्दरूप के ऊपर उस समय भी यवनिका नहीं गिरी। मेरे निकट उस समय कोई भी और कुछ भी अप्रिय नहीं रहा। .... शैशवावस्था से केवल आंखों से देखना ही अभ्यस्त हो गया था। आज मानों सारी चेतना से देखना मैंने आरम्भ किया। ... . कोई सामान्य काम करने के समय भी मनुष्य के अङ्गप्रत्यङ्ग में गति-वैचित्र्य प्रकाशित होता है। पहले कभी मैंने उस का लक्ष्य नहीं

किया था। अब प्रत्येक मुहूर्त में सारे मानव देह के सञ्चालन का संगीत मुझे मुग्ध करने लगा।.. ....पृथिवीव्यापी समग्र मानव जाति के देहचाञ्चल्य को एक साथ देखकर मैं एक महासौंदर्य-पूर्ण नृत्य का आभास पाने लगा।"

"प्रभात सङ्गीत" में इसी भावव्यतिक्रम की अभिव्यक्ति हुई है। सच तो यह है कि "प्रभात संगीत" में कवि के सारे जीवन के भावों की भूमिका छिपी हुई है। अंश के मध्य सम्पूर्ण की और सीमा के मध्य असीम की उपलब्धि करना ही रवीन्द्रनाथ के सारे जीवन की साधना है—यही सर्वानुभूति या विश्वबोध पहले पहल अभिव्यक्त हुआ है।

"प्रभात संगीत" के साथ साथ रवीन्द्रनाथ कुछ कुछ गद्य भी लिखा करते थे। यह "आलोचना" के नाम से प्रकाशित हुआ था।

"प्रभात संगीत" प्रकाशित होने के कुछ समय बाद रवीन्द्रनाथ बम्बई प्रान्त के कारबार नामक स्थान में गये और वहां समुद्र के किनारे आश्रय लिया। यहां आपने "प्रकृतिर प्रतिशोध" के नाम से एक नाट्यकाव्य लिखा। इसका सारांश इस प्रकार है—

"एक संन्यासी संसार के स्नेहबन्धन, माया बन्धन को तोड़, प्रकृति पर जयी हो एकान्त में विशुद्ध भाव से अनन्त की उपलब्धि करना चाहता था। शायद वह यह सोचता था कि अनन्त सब कुछ के बाहर है। अन्त में एक बालिका ने उसे स्नेहपाश में बांध कर अनन्त के ध्यान से संसार में लौटा लिया। संसार में लौट कर संन्यासी ने देखा कि क्षुद्र से ही बृहत् है, सीमा से ही असीम है और प्रेम से ही मुक्ति है। जैसे ही प्रेम का आलोक दिखाई देता है वैसे ही आंखें मूंदते हैं। वहीं देखते है कि सीमा में भी सीमा नहीं है।

"प्रकृतिर प्रतिशोध" का भीतरी भाव कुछ कुछ "आलोचना" नाम से प्रकाशित गद्य लेखों में भी दृष्टिगोचर होता है।

कारबार से प्रत्यावर्तन करने पर रवीन्द्रनाथ का विवाह हुआ। इस समय आपकी अवस्था २२ वर्ष की थी।

इसके अनन्तर "छवि ओ गान" प्रकाशित हुआ। इसी समय रवि बाबू की मध्यमा भ्रातृजाया के सम्पादकत्व में "बालक" नाम से एक मासिक पत्र निकला और एक वर्ष तक चला। "राजर्षि" नामक उपन्यास इसी में प्रकाशित हुआ था।

कुछ समय के अनन्तर श्रीयुत अक्षय सरकार का "नवजीवन" पत्र निकला। इस में भी रवि बाबू के कई लेख और कविताएं प्रकाशित हुई थीं। इन दिनों में बङ्किम बाबू—धर्मालोचना में प्रवृत्त थे और "बंगदर्शन" छोड़कर "प्रचार" नामक पत्र निकाल रहे थे। "प्रचार" में भी रवीन्द्रनाथ की दो कविताएं निकली थीं।

प्रायः इसी समय हिन्दू धर्म की पाश्चात्य विज्ञानों का साक्ष्य देकर अपनी कुलीनता प्रमाणित करने की चेष्टा चारों ओर फैल रही थी। "थियासोफी" ने पहले ही से इस आन्दोलन की भूमिका प्रस्तुत कर रक्खी थी। अब विभिन्न दलों के लेखक इस विषय का लक्ष्य कर भीषण मल्लयुद्ध में प्रवृत्त हुए। रवीन्द्रनाथ भी मल्लभूमि में आकर ताल ठोंकने लगे। इस विषय के सम्बन्ध में आपने कई व्यंग-काव्य और कई कौतुक-नाट्य लिखे थे और कई पत्र "संजीवनी-पत्रिका" में छपवाये थे। इस मल्लयुद्ध की उत्तेजना के मध्य आपका बंकिम बाबू के साथ भी कई विषयों में मतिविरोध हो गया था। इस विरोध का इतिहास उस समय के "प्रचार" और "भारती" पढ़ने से मालूम होगा।

"छवि ओ गान" के अनन्तर "कड़ि ओ कोमल" प्रकाशित हुआ। ये दोनों सौन्दर्य भोग की एक विशेष अवस्था के काव्य हैं। पर भेद इतना ही है कि एक में कल्पना का अंश अधिक है और दूसरे में हृदयवेग का। इन के उपरान्त "चित्रांगदा" और "मानसी" नामक काव्य और तत्पश्चात् "राजा ओर रानी" नामक नाटक प्रकाशित हुए। "मानसी" की अधिकांश कविताएं गाजीपुर में लिखी गयी थीं। वहां से लौटने पर रवि बाबू ने संकल्प किया था कि एक बैल गाड़ी पर ग्रैण्ड ट्रंक रोड के रास्ते से कलकत्ते से पेशावर तक भ्रमण करें, पर इस संकल्प के कार्य में परिणत होने के पहले ही आप के पिता जी ने आप से घर की जमींदारी की देख भाल करने के लिये अनुरोध किया। इसी समय से आप सियालदह में रहने लगे।

जमींदारी का काम काज देखते देखते आपको ग्राम्य-जीवन के सुख-दुःख से प्रत्यक्ष परिचय होने लगा। इससे इनकी रचनाएं कल्पना के राज्य से वहिर्भूत होकर वास्तविक सत्य की भित्ति पर प्रतिष्ठित हुईं।

सन् १८९१ ई० में रवि बाबू ने "साधना" के नाम से एक मासिक पत्रिका निकाली। इसमें आपने विविध विषयों पर लेख निकालने आरम्भ किये। छोटी छोटी कहानियों का भी सूत्रपात इसी समय हुआ। कहानियों और कविताओं को छोड़ कर साधना में समाजतत्त्व, राजनीति, विज्ञानतत्त्व आदि पर लेख निकलते थे। इन लेखों में कवि, समाज के क्षुद्र आचार विचार, लोकाचार का अन्धानुकरण, राजद्वार में आवेदन-निवेदन करने की हीनता आदि पर बहुत तीव्र कटाक्ष किया करते थे।

रवि बाबू की अधिकांश कहानियां प्रकृति के एक एक विशेष अनुभव को प्रकाशित करने की इच्छा से लिखी गई हैं। इनमें आपने बंगाल के ग्राम-जीवन की सच्ची घटनाओं की प्रकृति छवि खींचने का प्रयास किया है। इस

समय की प्रकाशित "सोनार तरी" "परश पाथर" आदि कविताओं में आप ने वैराग्य का घोर प्रतिवाद किया है। मिट्टी से उखाड़े हुए गाछ जिस तरह सूख जाते हैं, उसी प्रकार संसार के बन्धनों को तोड़ डालने से मनुष्य भी शुष्क हो कर मरते हैं। इसी शुष्कता की साधना को हम मुक्ति की साधना समझते हैं, पर वास्तविक सत्ता इस में कुछ भी नहीं है।

सन् १८९५ ई० में "साधना" बन्द हो गयी। रवीन्द्रनाथ की कवित्व शक्ति अब पूर्ण रूप से विकसित हो गयी थी। "चित्रा" और "चैताली" इसी प्रौढत्व की कविताएं हैं। "चित्रा" की "जीवन-देवता" कविताओं में रवीन्द्रनाथ ने कवित्व के उच्चतम शिखिर पर आरोहण किया है। इनमें उनके समस्त धार्मिक भाव और सामाजिक विचार व्यक्त हुए हैं। "जीवन-देवता" में आप का विश्वबोध या सर्वानुभूति पूर्ण रूप से प्रकाशित हुई है। क्षणिक और विच्छिन्न में अनंत और पूर्ण की उपलब्धि ही इस का भीतरी भाव है।

"जीवन-देवता" आदि से परवर्ती काल के लिखे काव्य "कल्पना" "कथा" "कहानी" "क्षणिका" "नैवेद्य" आदि में बड़ा प्रभेद है। कवि-जीवन वस्तुतः "चैताली" में ही समाप्त होता है। "कल्पना" से रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है।

"नैवेद्य" १९०१ ई० में प्रकाशित हुआ था। "कल्पना" "कथा" आदि में देश-बोध की सूचना है; "नैवेद्य" में उसका प्रकृत आरम्भ होता है। इन काव्यों में वर्तमान को छोड़ प्राचीन भारत के इतिहास, काव्य और पुराणों में प्रवेश करने की चेष्टा लक्षित होती है।

जब "नैवेद्य" प्रकाशित हुआ था, रवि बाबू ने "बङ्गदर्शन" के सम्पादन का भार ग्रहण किया। इसी समय से आपके वास्तविक स्वादेशिक

जीवन का प्रारम्भ हुआ ! "नैवेद्य" में प्राचीन तपोवन के ऋषियों की साधना का आदर्श सत्यभाव से लाभ करने के लिये कवि की व्याकुल इच्छा प्रकाशित हुई थी । अब वह इच्छा और भी प्रबल हो उठी । रवीन्द्रनाथ ने देखा कि भारतवर्ष में धर्म और समाज, परमार्थ और संसार परस्पर विच्छिन्न हो कर धर्म को निश्चेष्ट, निष्क्रिय और समाज को आध्यात्मिकता शून्य, आचारप्रायण मात्र बना कर हमको दुर्बल कर रहे हैं । इसी से हम कहते हैं कि सांसारिक कार्य चलाने के लिये आचार के बन्धनों को स्वीकार करना होगा और आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिये संसार त्याग कर संन्यासी होना होगा । ये दोनों कैसे मिल सकते हैं और उस सम्मिलन से सारा देश बलिष्ठ होकर फिर भी कैसे जागृत हो सकता है, यही दिखाने की चेष्टा रवीन्द्रनाथ करने लगे । आपने देखा कि भारतवर्ष के प्राचीन चतुराश्रम धर्म के आदर्श, तपोवन के आदर्श ने यह निर्दिष्ट कर दिया है कि संसार और परमार्थ, भोग और त्याग इत्यादि परस्पर विपरीत पदार्थों का समन्वय किस प्रकार साधित हो सकता है ! पर बंगाल में उस समय कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिस के द्वारा इस समन्वय की उत्कट आवश्यकता की पूर्ति होने की चेष्टा की जा सके । अतएव १९०१ ई० में आपने बोलपुर में "शान्ति-निकेतन" नामक एक ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित किया । यह अब तक विश्वभारती के नाम से वर्तमान है । इस में प्राचीन भारत के आदर्श पर शिक्षा दी जाती है । यह विश्वविद्यालय इस समय भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध क्षेत्र है ।

रवीन्द्रनाथ ने स्वादेशिकता के परिपूर्ण भाव के द्वारा हिंदू समाज को जोर से पकड़ना चाहा था । उन के मन में यह विचार उदित होता था— और इसे बङ्गदर्शन के बहुत से प्रबन्धों में उन्होंने व्यक्त भी किया था—कि युरोप की जातियों के "नेशन" (राष्ट्र) ने जिस प्रकार सारे स्वातन्त्र्य और विच्छेद में एकता सम्पादन कर राष्ट्रीय संस्थाओं को दृढ़ बना रक्खा है,

उसे प्राणपण से खड़ा रखना ही हमारी प्रधान आवश्यकता है। नहीं हमारी सारी जातियां आकर मिलेंगी। उसी स्वदेशी समाज को यदि हम सजग न करें तो विदेश के आक्रमण की धारा में हम बह जायंगे, पृथ्वी के इतिहास से हमारा नाम लुप्त हो जायगा। 'बङ्गदर्शन' में प्रकाशित "समाजभेद," "ब्राह्मण," "हिन्दुत्व," चिने-मैनेरचिठि" आदि प्रबन्धों को पढ़ने से इसी भाव का परिचय मिलता है।

इस स्थान में यह कह देना आवश्यक है कि आजकल के "पक्के" हिन्दुओं के पृष्ठपोषक रवीन्द्रनाथ कभी नहीं रहे। जो है, सो अच्छा है और वह सदा रहेगा, यह उन्होंने कभी नहीं कहा है। आपका मत है कि वर्णाश्रम-धर्म हमारी प्राचीन आर्यसमाज की भित्ति था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये ही तीन वर्ण द्विज बोले जाते थे। वृत्तिभेद के सिवा उन में और कोई भेद नहीं था। कालक्रम से द्विज की साधना जिस प्रकार लुप्त हो गई है, अपनी अपनी वृत्ति का अनुशीलन भी उसी प्रकार भिन्न भिन्न वर्णों के द्वारा आचरित नहीं होता है। जिन्हें निर्लिप्त रह कर तपस्या करनी चाहिए, जिन्हें त्याग के नित्य आदर्श को अपने जीवन में रक्षित करना चाहिए, उन ब्राह्मणों ने उस वृत्ति की रक्षा न कर क्षुद्र वृत्ति ग्रहण की है। अन्य वर्णों का भी यही हाल है। इसी लिए वृत्तिभेद-मूलक समाज-व्यवस्था को फिर भी उस की पूर्वतन विशुद्धता में दृढ़ करना होगा। यह न होने से हमारी समाज का कल्याण नहीं।

उपर्युक्त कारणों से ही रवीन्द्रनाथ एक समय उग्र स्वादेशिकता से उत्तेजित हो गये थे।

यहां दो घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। "बङ्ग दर्शन" सम्पादन करने के दूसरे वर्ष अर्थात् १९०२ ई० में आपको स्त्रीवियोग हुआ

और इसके बाद एक वर्ष बीतते आपकी मध्यमा कन्या भी चल बसी। कन्या को वायुपरिवर्तन कराने के लिए आप अलमोड़ा पहाड़ पर गये थे। वहां आप ने एक नया काव्य रचा था। यह वात्सल्य रस से पूर्ण है और इसका नाम "शिशु" है।

सन् १९०५ ई० में वङ्गविच्छेद हुआ। इस समय वङ्गालियों ने जो तुमुल आन्दोलन किया था रवि बाबू उसके एक प्रधान उद्योगी थे। सङ्गीत के द्वारा, वक्तृता द्वारा उन्होंने वङ्गालियों को देश के आदर्श और सत्य के प्रति सजग कर दिया था। उस समय आपके स्वादेशिक जीवन का मध्याह्न काल था। आपके उस समय के लेख और वक्तृतायें बड़ी जोशीली हैं।

ठीक ऐसे समय में कवि ने अपने को हठात् आन्दोलन से अलग कर लिया। इसमें उस समय आपकी बड़ी निन्दा हुई थी, पर जो लोग इनके स्वभाव से परिचित हैं, जिन लोगों ने इनके विचारों के क्रमिक परिवर्तनों का अनुशीलन किया है, उन्हें इनके इस आचरण पर आश्चर्य प्रकट करना नहीं चाहिये। कारण चाहे जो हो, रवि बाबू आन्दोलन से अलग हो गए। विश्वबोध की मूक रागिनी फिर भी ध्वनित होने लगी। आप के इस समय के लेखों और कविताओं से यह स्पष्ट है। भारतवर्ष को आपने स्वादेशिकता की संकीर्ण दृष्टि से देखना छोड़ दिया। इस समय से आपके विचार में भारतवर्ष हिन्दू मुसलमान का भारतवर्ष नहीं रहा, वह सारी मानव जाति का भारतवर्ष हो गया। आधुनिक उपन्यास "गोरा" में आपने यही दिखलाया है। उपन्यास के नायक ने जब भाव के अनेक घात प्रतिघात के अनन्तर, भारतवर्ष को उदार दृष्टि से देखा तो उसने जाना कि भारतवर्ष विशेष भाव से हिन्दू का भारतवर्ष नहीं है बल्कि सारी मानव जाति का सम्मिलन क्षेत्र है। "समाज" के "पूर्व और पश्चिम" शीर्षक प्रबन्ध में भी इसी बात का उल्लेख किया गया है।

रवि बाबू के आध्यात्मिक जीवन का यह मध्याह्नकाल है। इन दिनों आत्मा और ब्रह्म की उपलब्धि की चेष्टा ही उनका प्रधान कार्य है और आध्यात्मिकता उनकी कविताओं, लेखों और वक्तृताओं का मुख्य लक्षण है। "गीताञ्जलि" "अचलायतन" आदि इनकी इस अन्तिम दशा के लेख हैं।

सन् १९११ ई० में बंगाली साहित्यिकों की प्रतिनिधि सभा 'बंगीय साहित्य परिषद्' ने आप के सम्मानार्थ एक विराट् सभा आह्वान की थी और आपको एक अभिनन्दन पत्र भेंट किया था। अब आपके अनेक ग्रन्थों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद होने लगा।

इङ्गलैण्ड और अमेरिका में रवि बाबू का अच्छा सम्मान होने लगा। जब बाबू रवीन्द्रनाथ इंगलैण्ड में थे, तब वहां के कई प्रसिद्ध साहित्यिकों ने आपकी बड़ी खातिर की थी। लण्डन में एक विराट् सभा हुई थी जिस में यीटस (Yeats), रोथेनूस्टाइन (Rothenstein), हैवेल, (Havell), नेविन्सन (Nevinson) और वेलज़ (Wells) सरीखे बड़े बड़े विद्वान और साहित्यिक आपके सम्मानार्थ एकत्र हुए थे। विलायत की विद्वन्मण्डली ने आपका जो सम्मान किया था वह शायद ही किसी दूसरे भारतवासी को नसीब हुआ हो। रवि बाबू ने गीताञ्जलि के नाम से अपनी कई कविताओं का अंगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया। इंगलैंड के विद्वानों और समाचार पत्रों ने इसकी इतनी प्रशंसा की कि उसका सम्यक वर्णन करना कठिन है।

इसी पुस्तक पर आपको "नोबल प्राइज़" प्राप्त हुआ। अब रवीन्द्रनाथ बाबू की कीर्ति सारे संसार में फैल गई और वे एशिया के कवि-सम्राट् माने गए। संसार के सारे सभ्य देश उनका स्वागत और सम्मान करने में अपना गौरव समझते हैं।

२८

अमरनाथ की यात्रा

अमरनाथ हिन्दुओं का एक बड़ा भारी तीर्थ स्थान है। समुद्रतल से १८,००० फुट की ऊंचाई पर कश्मीर-प्रदेश की विशाल "लीदर घाटी" में यह स्थान है। लीदर-घाटी के अन्तर्गत एक सुन्दर गुफा में हिम का एक शिवलिङ्ग बन जाया करता है और वही अमरनाथ महादेव हैं। ज्यों ज्यों शुक्ल पक्ष में चन्द्रदेव पूर्णता के पथ पर अग्रसर होते हैं, त्यों त्यों शिवलिङ्ग भी अपने आकार में पूर्ण होता जाता है। जब पूर्णिमा की परम मनोहर रजनी में कुमुदिनीनायक अपनी षोडश कलाओं से प्रकाशित होते हैं, तभी अमरनाथ जी का शिवलिंग भी समूचा बन कर तैयार हो जाता है। प्रकृति देवी की कैसी अनोखी कारीगरी है। देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। तिस पर विशेषता यह है कि जैसे जैसे कलाधर की ज्योति क्षीण होती जायगी, शिवलिंग भी क्षीण होता जायगा और अमावस्या की घोर तिमिर रजनी में, जब हिमांशु का अस्तित्व शेष नहीं रह जाता है, तब मानों अपने परम मित्र की धवल कीर्ति को अदृश्य होते देख स्वयं देवाधिदेव भी अन्तर्धान हो जाते हैं। बस अमरनाथ जी का यही क्रम है। इस भूतल पर बड़ी बड़ी आश्चर्यजनक घटनायें दिखलाई देती हैं, उनमें अमरनाथ जी का शिवलिंग भी एक विशिष्ट स्थान रखता है।

गिरिराज हिमालय के गगन-चुम्बी उच्च शृङ्ग पर स्थिर होने के कारण यह स्थान सदा हिम से आच्छादित रहता है। साधारणतः यहां की यात्रा करना असम्भव है। जब शरद ऋतु का अन्तिम काल और वसन्त का आगमन होता है, शनैः शनैः शीत की भीषणता क्षीण होने लगती है, बर्फ पिघलता है और मार्ग साफ हो जाता है, तब वहां तक पहुंचना मानव शक्ति से परे नहीं। अस्तु, तभी अमरनाथ जी की यात्रा आरम्भ होती है—शिवरात्रि के दिन शिवलिंग के दर्शन होते हैं।

उस अवसर पर सहस्रों की संख्या में दर्शनार्थी यात्री अमरनाथ जाते हैं। काश्मीर राज्य की ओर से भी यात्रियों की सुविधा के लिए कुछ कुछ प्रबन्ध हो जाता है। प्रत्येक यात्री को सर्दी से सुरक्षित रखने के लिये (और खाद्य सामग्री बना सकने को) गले में लटकाने वाली एक-एक दहकती हुई अंगीठी और बर्फ पर काम दे सकने वाली एक जोड़ी चर्मपादुका दी जाती है—ये राज्य की ओर से बिना मूल्य दी जाती है। साधुओं और गरीबों को तो उतने दिन खाने योग्य खाद्य सामग्री भी दे दी जाया करती है। अमरनाथ के यात्रियों में कौपीनधारी, जटाजूट-मण्डित, भस्म रमाए साधुओं की बड़ी भारी संख्या होती है। यहां काशी, हरिद्वार, गंगोत्तरी, रामेश्वर और बड़ी दूर-दूर से आए हुए यात्रियों का समागम होता है। साधुओं में संन्यासी, नागा, बैरागी आदि प्रायः सभी अपने अपने दल के झुण्ड के साथ अपनी पताका उड़ाते श्री अमरनाथ जी जाते हैं। पौह फटते-फटते यात्री लीदर-घाटी की चढ़ाई आरम्भ करते हैं। चलने का मार्ग बड़ा कठिन है, चीड़ आदि के विकट जंगलों के मध्य में प्रवेश करके जाना होता है। मार्ग निरा चढ़ाई का ही है। ज्यों-ज्यों यात्री ऊपर चढ़ता जाता है हिमालय पर्वत की मनोहर प्राकृतिक शोभा नेत्रों के आगे उमड़ती चली आती है। गिरिराज हिमालय अपने प्राकृतिक सौंदर्य के कारण बहुत ही मनोहर है। थोड़ी थोड़ी सी दूर पर निर्मल जल के झरने स्वाभाविक झर-झर शब्द करते हुए

रह रहे हैं। चारों ओर विशालकाय पर्वत बर्फ का खोल ओढ़े निस्तब्ध जीव से खड़े हुए हैं। पीत हरित और अरुण वर्ण के रङ्ग-बिरंगे फूल खिल कर उस स्थान की मनोहरता कई गुणा अधिक बढ़ा देते हैं। कहीं-कहीं पहाड़ी नदियां अपने वज्र-निनाद से हृदय तक को कम्पायमान कर रही हैं। यहां के झरनों और नदियों का जल बहुत ही मिष्ट और स्वादिष्ट होता है यह सब निरन्तर एक ही तरह का कोलाहल-पूर्ण शब्द करती हुई अहर्निश बहा करती हैं। न जाने ये कब बही थीं और कब तक बहेंगी। शायद सृष्टि के आदि से अन्त होने तक इनका सम्बन्ध है। हम मानव जरा सा उन्नत होते ही गर्व, दम्भ और पशु-वृत्ति के अधीन हो जाते हैं; किञ्चित् क्लेश प्राप्त होने पर जीवन का महत्त्व भूल बैठते हैं; पर ये जल के स्रोत इतने अगाध और गम्भीर हैं कि सदा एक ही चाल चला करते हैं; शायद तभी इन्हें अमरत्व प्राप्त हुआ है। ये रात-दिन अपने कार्य में व्यग्र रहते हैं। चाहे कोई देखे या न देखे, ये बराबर एक चित्त और एक भाव से अपना काम करते रहते हैं। झरनों के चारों ओर हरे हरे बड़े बड़े छायादार वृक्ष लगे हैं; जिन पर नाना प्रकार के पक्षी बैठ कर नित्य प्रति प्रभु के गुण-गान किया करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अमरनाथ का मार्ग हर तरह से प्राकृतिक शोभा का आगार है। कई घण्टे की चढ़ाई के बाद यात्री लीदर-घाटी के एक खुले मैदान में आ कर अपना पड़ाव डालते हैं। यात्री सदा सौ-पचास की तादाद में चलते हैं; क्योंकि हिंसक पशुओं का बड़ा डर रहता है। हां; जिस मैदान में पहला पड़ाव पड़ता है; वहां तरह तरह की बहुत स्वादिष्ट पत्तियां मिलती है। साधु और निर्धन यात्री इनको उबाल कर खाते हैं और इनको चिलम में रख कर फूंक लगाते हैं। चन्द्रमा के निर्मल प्रकाश में इस स्थान की शोभा बड़ी ही दर्शनीय हो जाती है। रात्रि भर वहां विश्राम कर यात्रियों के झुण्ड सूर्योदय होते होते फिर यात्रा आरम्भ कर देते हैं। यहां की चढ़ाई ठीक डगमगाती हुइ सीढ़ी की तरह है; जिस पर कांपते; शीत से सिसकते; सी सी करते यात्रियों के समूह के समूह पग बढ़ाते चले जाते

हैं। रह रह कर कोई कोई 'अमरनाथ' चिल्ला देता है। हज़ारों कण्ठ ध्वनियां 'श्री अमरनाथ' चिल्लाकर आकाश-पाताल एक कर देती हैं। ज्यों ज्यों ऊपर पहुंचिए, शीत की भीषणता बढ़ती जाती है। वहां हवा की कमी के कारण सांस लेने में कष्ट सा होने लगता है और बहुत शीघ्र शीघ्र सांस चलने लगता है। सायङ्काल को ठीक बारह घण्टे के कष्टकारी सफ़र के बाद शेषनाग पहुंचते हैं। उस समय ऐसा विदित होता है, मानों वर्षों के बाद विश्राम करने का अवसर मिला हो। शेषनाग हिमालय पर्वत की तराई में एक विशाल झील है, जो चारों ओर से गिरिराज द्वारा सुरक्षित है। इसके वक्षःस्थल को जलयानों ने दलन करने का साहस कभी नहीं किया है और न व्यापार का कल-रव ही अन्यान्य सागरों की तरह शेषनाग के तट को कूजित किया करता है। यह परम शान्त स्थल है। शेषनाग का जल स्फटिक या दुग्ध के समाम उज्वल है। जल बड़ा ही स्वादिष्ट, शीतल और स्वास्थ्यवर्धक है। चांदनी रात में तो शेषनाग की लहरें हिलोरे मारती हुई गगनचुम्बन का साहस करती हैं। शेषनाग भी एक तीर्थ है। अमरनाथ के जाने वाले यहां स्नान करते हैं और यथा-शक्ति वरुणदेव की पूजा-अर्चना कर रात्रि भर यथातथा "अमरनाथ, अमरनाथ" जपते-जपते काट देते हैं। यहां गजब का शीत होता है। एक तो बर्फीले पहाड़ और खुला मैदान, तिस पर सन्नाटे की हवा मिल कर नाड़ियों के रक्त प्रवाह को रोक देने के लिये पर्याप्त है। सवेरा होते ही 'अमरनाथ, श्री अमरनाथ' की ध्वनि के साथ यात्रियों की ट्रेन फिर सीटी देती हुई चल पड़ती है। पहाड़ों से 'अमरनाथ, अमरनाथ' की जो प्रतिध्वनि निकलती है वह ऐसी मालूम पड़ती है, मानों असह्य यातनाओं और कष्टों से जर्जरीभूत यात्रियों को गिरिराज सान्त्वना दे रहा हो कि पथिकगण! घबराना नहीं, अमरनाथ जी अब सन्निकट ही हैं?

अमरनाथ की अन्तिम मंजिल कष्ट की चरम सीमा है। शीत के मारे अंग प्रत्यङ्ग ठिठुरने लगते हैं, दृष्टि धुंधली-सी पड़ जाती है। बर्फ के ऊपर चलना पड़ता है, जो कष्टदायक होने के साथ ही साथ बड़ा ही भयप्रद है, जिसमें प्राणों तक का संशय रहता है। एक द्रष्टा ने अपनी आंखों देखी घटना का उल्लेख करते हुए कहा है कि मेरे देखते देखते एक बुढ़िया का पैर बर्फ में जा फंसा। ज्यों ज्यों वह वेचारी उस में से निकलने का प्रयत्न करती थी, त्यों २ वह नीचे धसती चली जाती थी और पांच मिनट के अन्दर ही बुढ़िया का इस संसार में अस्तित्व न रहा। दर्शन की विचित्र धुन में मतवाले यात्रियों ने एक बार उधर ताक कर भी न देखा जैसे कुछ हुआ ही न हो। जिनके लिये सम्भव हो उन्हें सदा "डांड़ियों" पर जाना चाहिए। मध्य श्रेणी के आदमी 'कंडियों' पर भी जा सकते हैं। जिन वेचारों के पास कुछ नहीं है और जिन्हें अमरनाथ के दर्शनों द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास है वे तो पैदल ही वर्फिस्तान को पार कर श्री अमरनाथ जा पहुंचते हैं। चलते चलते झरनों, पहाड़ी नदियों और ऊबड़-खाबड़ भूमि को पार करते दूसरे सायङ्काल यात्री सूर्यदेव को अपनी यात्रा के अन्तिम नमस्कार कर उस गुफा में प्रवेश करते हैं जिस में श्री अमरनाथ जी का हिम-लिंग है।

गुफा में धुन्धला-सा प्रकाश रहता है। उस में थोड़ी दूर चल चुकने के बाद एक कोने में वर्फ का श्वेतातिश्वेत 'हिम-लिंग' दिखाई पड़ता है। जिसके लिए इतने कष्ट सहन किए उसके दर्शन पाकर अपनी मनोकामना पूरी कर निःसन्देह यात्रियों की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। जो वस्तु

जितनी कठिनता से प्राप्त होती है उसकी उपलब्धि से उतना ही आनन्द भी होता है। यात्री वहां पहुंच कर गङ्गा-जल, बिल्वपत्र और नाना प्रकार के पुष्पों से शिवजी की अर्चना करते हैं। अमरनाथ जी का मन्दिर कहिए या गुफा, शङ्कराचार्य के मठवालों के अधीन है। दर्शन-काल में मठाधीश की ओर से प्रतिवर्ष यहां दो महन्त भेजे जाते हैं, जो यात्रियों को विधिपूर्वक पूजा-अर्चन करने में सुविधा प्रदान करते हैं, और भेंट की हुई वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। इस दिन रात्रि भर जागरण होता है। दूसरे दिन प्रातःकाल अमरनाथ जी के दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ कर यात्रियों का टिड्डी-दल उसी मार्ग से लौटना आरम्भ करता है। अब यात्री को चिन्ता नहीं होती, चाहे जीवन रहे या जाय। चाहे कोई बर्फ की शिला गिर कर उसका सिर चकनाचूर ही क्यों न करदे, उसके लिए जीवन के महत्त्व की इति हो जाती है; क्योंकि उसे विश्वास होता है कि वह देवाधिदेव अमरनाथ का शुभ दर्शन कर अपने लिए मुक्ति का द्वार खोल आया है।

२६

बेतार के तार का अविष्कार

आज-कल के वैज्ञानिक आविष्कारों में से बेतार का तार बड़ा चमत्कार-पूर्ण है। महाभारत में पढ़ते आये हैं कि जब कौरवों और पाण्डवों में भीषण संग्राम हो रहा था तब कुरुक्षेत्र की रणभूमि से दूर हस्तिनापुर में बैठे-बैठे सञ्जय प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र को प्रतिदिन कौरवों और पाण्डवों की हार जीत के सम्वाद सुनाया करते थे। साधारणतः ऐसी अनहोनी बात को कोरी कविकल्पना कह कर लोग अभी तक टाल दिया करते थे, क्योंकि वे यही समझते थे कि इस प्रकार की इन्द्रियातीत घटनाओं का घटित होना अस्वाभाविक सा है। पर जब से बेतार की तारबर्की की धूम संसार में मची है, तब से घोर अविश्वासियों की भी आंखें खुल गयी हैं और उन्हें इस बात का आभास सा होने लगा है कि सम्भवतः सञ्जय की बात ठीक ही हो।

बेतार के तार के अद्भुत आविष्कार के कर्ता 'मारकोनी' हैं। वे जाति के इटैलियन थे। सन् १६०१ के सितम्बर में जब वे नवयुवक ही थे, इंगलैण्ड से न्यूफाउण्डलैण्ड के लिए रवाना हुए। लगभग एक सप्ताह तक उन्होंने कतिपय सहायक वैज्ञानिकों के सहित कई बड़ी बड़ी पतंगों को हवा में बहुत ऊंचे पहुंचाने का निष्फल प्रयत्न किया। एक पतंग बांस और रेशम की बनी थी और षट्कोण बनी थी और नौ फीट ऊंची थी।

वह ज्यों ही उड़ाई गई त्यों ही उसके बन्धन टूट गए और वह जाकर समुद्र में गिर पड़ी। एक गुबारे की भी यह दशा हुई। अन्त में १२ दिसम्बर को जब कि बड़े वेग की हवा चल रही थी उन्होंने इसी युक्ति से एक पतंग को चार सौ फीट की ऊंचाई तक पहुंचाने तथा उसके सीधे रहने का प्रयत्न किया और उसमें वे सफल भी हुए। पतंग में तार लगा हुआ था, जो एक बांस में होता हुआ एक दुतल्ले मकान के कमरे में खिड़की से होता हुआ पहुंचता था। उस कमरे में मारकोनी तथा केम्प दो साहब बैठे हुए थे।

यह हवा का तार एक यन्त्र के द्वारा पृथ्वी में गड़े हुए एक तार से तथा टेलीफ़ोन की नली से जुड़ा हुआ था। उस दिन बड़ी ठण्डक थी। वहां से ३०० फ़ीट नीचे समुद्र की लहरें बड़े ज़ोर से चट्टान से आकर टकराती थीं और आगे २००० हज़ार मील तक अथाह समुद्र भरा था।

थोड़ी ही देर में मारकोनी साहब जो कोई आध घंटे से कान लगाये हुए बैठे थे, उन्हें कुछ सुन पड़ा। तब उन्होंने टेलीफोन की नली केम्प साहब को दे दी। शीघ्र ही खटखट का शब्द सुन पड़ा। ऐसा ज्ञात हुआ कि कुछ न कुछ अवश्य हो रहा है। फिर भी कोई सम्वाद न सुन पड़ा। उस कमरे में अचानक तीन बार खटखट शब्द हुआ जिससे 'स' शब्द का बोध हुआ। मारकोनी ने कान लगा कर वह शब्द सुना। निःसन्देह मारकोनी को अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त हुई। ईथर-तरंगों के द्वारा अटलांटिक महासागर के पार बेतार के तार का का सम्बन्ध हो गया। उसी क्षण से बेतार का तार स्वप्नवत् नहीं रहा, वरन एक सचमुच अनुभूत बात हो गयी।

फिर भी मारकोनी को अपनी सफलता पर पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ था। उसके चित्त में इस बात का सन्देह सा रह गया कि कदाचित् संसार उसकी बात पर

विश्वास न करे। बेतार के तार का प्रयोग अभी केवल मारकोनी और उसके कुछ साथियों ने ही आपस में सम्वाद भेज कर किया था। दो दिन तक मारकोनी ने अपने आविष्कार का समाचार संसार के सामने प्रकाशित करने में मीन मेष की। इसके उपरान्त उसने एक तार इंगलैण्ड भेजा और इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि देखें उसका क्या फल निकलता है। उस के तार का उत्तर आश्चर्यजनक शीघ्रता से आया। उस से उसका उत्साह बढ़ा और अपनी सफलता के विषय में उसको जो कुछ सन्देह था वह भी चला गया।

इंगलैण्ड में कार्नवाल के समुद्र-तट पर मारकोनी ने एक बड़ा बेतार के तार का स्टेशन बनाया। न्यूफाउण्डलैण्ड जाने के पहले उसने उसके स्टेशन के अध्यक्ष से कह दिया था कि वे प्रति दिन साढ़े बारह बजे अंगरेजी के एस (S) अक्षर को तार द्वारा भेजा करें। निदान वे प्रतिदिन ऐसा ही करते रहे। ईथर की तरंगें उसी वेग से चलती हुई—जिस प्रकार प्रकाश चलता है—समुद्र के पार पहुंचती थीं और साधारण टेलीफोन की नली द्वारा मारकोनी ने उनको कान से सुन लिया था। मारकोनी को तो आरम्भ से ही पूर्ण विश्वास था कि मैं अवश्य सफल हूंगा।

बेतार के तार के आविष्कार का श्रेय अकेले मारकोनी को ही नहीं है। कई पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया था। सन् १८४२ में एक नहर के आर पार जल के द्वारा तार दिये गए थे। ग्रेहमबैल जिन्होंने टेलीफोन का आविष्कार किया था उनसे टेलीफ़ोन की नली बेतार वालों को मिली। प्रोफ़ेसर टोब्रिज ने ईथर के द्वारा कुछ दूर तक सम्वाद भेजे थे। ग्रैमोफोन के आविष्कारक एडिसन साहब ने तार देने का एक ऐसा ढङ्ग निकाला था जिसके द्वारा ईथर की तरंगें चलती हुई ट्रेन के ऊपर से छोटे

छोटे स्वर से होती हुई समीपस्थ तारों में पहुंच जाती थीं और लाइन पर किसी स्टेशन तक पहुंच सकती थीं।

यद्यपि एक प्रकार से एडिसन ने बेतार के तार के आविष्कार का मार्ग खोल दिया, तथापि जर्मनी के हर्ज नामक एक वैज्ञानिक ने इस दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

एक दिन १८८६ में जब हर्ज साहब अपनी प्रयोग-शाला में बिजली के तारों के पिण्डों से प्रयोग कर रहे थे तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि जब तार के एक पिण्ड से विद्युद्‌घट का सम्पर्क होता है, तब उसी समय दूसरे पिंडों में भी विद्युत्-संचार हो जाता है। विशेष अनुसंधान करने पर बेतार के तार के सम्बन्ध में कई उपयोगी बातें ज्ञात हुईं।

अन्त में मारकोनी का नाम आता है। उनका जन्म इटली में बलोनिया शहर के पास सन् १८७४ में हुआ था। उनके पिता इटली के एक ज़मींदार थे और इनकी माता डब्लिन शहर के प्रतिष्ठित घराने की थीं। मारकोनी इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर रीगी के शिष्य रह चुके हैं। आरम्भ से ही उन्हें बेतार के तार सम्बन्धी प्रयोग करने का बड़ा शौक रहा है।

हर्ज साहब की विद्युत्तरंगों के सम्बन्ध में वे बहुत कुछ सुन चुके थे। वे स्वयं इस बात का स्वप्न देखा करते थे कि किसी प्रकार वह समय आवे कि इन्हीं तरंगों के द्वारा एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक क्षण-मात्र में समाचार भेजे जा सकें। मारकोनी इस आविष्कार में बड़े उत्साह से निरत हुए। अपने

पिता के बाग़ के आर-पार उन्होंने दो बांस गाड़े जिनमें उन्होंने टीन के प्रेयट लगा दिये। थोड़े ही समय के बाद वे कई सौ फ़ीट की दूरी तक ख़बरें भेजने लगे।

कुछ दिन बाद मारकोनी इंगलैंड गए। वहां पर उन्हें लन्दन पोस्ट आफिस से बेतार के तार का स्टेशन बनाने की आज्ञा मिल गई। उसी समय से मारकोनी ने अपने आविष्कार की धूम मचा दी। इंगलैंड के समीपस्थ एक द्वीप से बेतार का सम्वाद भेजा गया जो पहुंच गया। इसके अतिरिक्त एक जहाज़ से भेजी हुई ख़बर बात की बात में समुद्र तट तक पहुंची। इङ्गलैंड के युवराज एडवर्ड काफी दूर समुद्र में एक नौका पर बीमार पड़े थे, उस बीमारी का समाचार महारानी विक्टोरिया को मिला। यही नहीं नार्थ सी के किनारे एक विपत्ति-ग्रस्त जहाज की रक्षा भी बेतार के द्वारा हुई।

इंगलैंड की नाव-सेना विभाग की ओर से मारकोनी को एक बहुत बड़ा पुरस्कार मिला। इसी प्रकार अपने आविष्कार के कारण मारकोनी को अच्छी खासी आर्थिक प्राप्ति हुई और चतुर्दिक् में इनका यशोविस्तार हुआ। गत यूरोप महासमर में इन्होंने एक अफसर की हैसियत से इटली की ओर से भाग लिया था।

अभी हाल में मारकोनी ने मंगल ग्रह के निवासियों के पास तक बेतार के तार भेजने का अद्भुत प्रयत्न किया था। यद्यपि उन्हें इस प्रयत्न में सफलता नहीं हुई तथापि यह समझ लेना चाहिये कि भविष्य में कभी न कभी मारकोनी-ग्राम आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच में सम्बन्ध स्थापित कर देंगे।

कोई नहीं कह सकता कि भविष्य में बेतार के तार के क्या क्या उपयोग होंगे। पिछली लड़ाई में तो इसकी उपयोगिता भली प्रकार सिद्ध हो चुकी है। शान्ति के दिनों में भी लोगों का आमोद-प्रमोद करने में इसकी बहुत बड़ी क्षमता है क्योंकि जिस किसी के पास उसका यन्त्र हो वह घर बैठे बैठे संसार के उत्तमोत्तम गानों तथा अभिनयों का आनन्द लूट सकता है। आगे चल कर एक समय आवेगा जब विद्यार्थियों को स्कूलों तथा कालिजों में जाने की आवश्यकता न होगी और न अध्यापकों को बड़ी बड़ी क्लासों में बैठकर गला फाड़ कर चिल्लाने की आवश्यकता पड़ेगी। लोग अपने अपने घरों में बैठे हुये सब काम चला लेंगे।

(सरस्वती से.)

——:०:——

३०

क्रोध

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे, तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो वह हाथ उठाते तो देखता है, पर अपनी पीड़ा और हाथ उठाने से उसका क्या सम्बन्ध है, यह वह नहीं जानता। अतः वह केवल रोकर अपना दुःखमात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार या निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के समान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्ति करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहिले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिह्न दिखाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिरनिवृत्ति के लिये यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं

हुआ है तो वह केवल "आह ऊह" करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिये नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय में भावी दुःख से बचने की इच्छा नहीं रहती है, बल्कि चेतन-प्रकृति के भीतर क्रोध इसी लिए है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण-परिज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहां इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहां क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध, जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपने धारणकर्ता की ओर नहीं। जिस से दुःख पहुंचा, क्रोध वहीं पहुंचेगा। उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुंचे, यही क्रोध का लक्ष्य है। क्रोध करने वाले का फिर क्या होगा इससे उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं। दूसरे विचार-शक्ति भी उन पर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अविरोध-शक्ति के रूप और परिणाम के निश्चय, दया भय आदि और विकारों के संचार तथा उचित, अनुचित के विचार के लिए जगह ही नहीं रही तो बहुत हानि पहुंच जाती है। जैसे कोई सुने कि उस को शत्रु २० आदमी लेकर मारने आ रहा है, और झट क्रोध से व्याकुल होकर विना शत्रु की शक्ति के विचार का भय किये उसे मारने के लिये अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में कब संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त आवश्यकीय मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में ही क्रोध वहां काम दे सकता है, जिसके लिये उसका विकास होता है। कभी कभी लोग अपने कुटुम्बियों वा स्नेहियों से झगड़ कर उन्हें पीछे से दुःख पहुंचाने के लिए अपना सिर तक पटक देते हैं। पर सिर पटकना अपने को दुःख पहुंचाने के अभिप्राय से नहीं होता, क्योंकि

बिल्कुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखें तब समझ लेना चाहिये कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उस के सिर पर पटकने की परवाह है अर्थात् जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चल कर दुःख पहुंचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुंचाया है उसमें दुःख पहुंचाने की इच्छा थी या नहीं। इस से कभी तो अचानक पैर कुचल जाने पर कोई किसी को मार बैठता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था, मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुंचा और कुशों को उखाड़ कर जड़ों में मट्ठा देने लगा। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है, जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किये आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाये हुये है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया, तो वह अन्तःकरण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्यों को फिर बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुंचा पर उसके दोहराये जाने की सम्भावना कुछ नहीं है, उसको जो कष्ट पहुंचाया जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित आदमी रेल पर चले जाते हैं। इसमें एक को आगे के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुंचते पहुंचते बात ही बात में एक ने एक दूसरे को तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते एक तमाचा लगा दे, तो वह उसका प्रतिकार या बदला कहा जायगा, क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचा खाने की कुछ भी सम्भावना नहीं है। जहां और दुःख पहुंचने

की कुछ भी सम्भावना होगी, वहीं शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो चार टेढ़ी सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़ कर पीट दें तो हमारा यह काम शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलायेगा, क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर कभी हमारी दृष्टि नहीं रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यान-पूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःख दाता को कष्ट पहुंचाने की प्रवृत्ति दोनों में है। पर एक में वह परिणाम आदि के विचार को बिल्कुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुये। इन में से पहिले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थ-साधन अवश्य हो जाता है। दुःख पहुंचाने वाले से हमें फिर दुःख पहुंचने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उचित दण्ड दे देने से पहले तो उसकी शिक्षा व भलाई हो जाती है, फिर समाज की; और लोगों का बचाव हो जाता है। क्रोध-कर्ता की दृष्टि इस परिणाम की ओर नहीं रहती।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है। इस से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारों को सहायता देता है। कभी यह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के साथ। एक कुमार्गी किसी अनाथ अबला के ऊपर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है, पर दया की पहुंच तो यहां तक ही है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया पैसा देकर अपने दया के वेग को शान्त कर लेते। पर यहां तो उस दुःख का हेतु मूर्तिमान् तथा अपने विरुद्ध-प्रयत्नों को ज्ञान पूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखने वाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही हमें उस अत्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया भी व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले दया की वाह-वाही को नहीं बांटता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं

"उसने दया करके बचा लिया।" कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसर पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियां मार मार कर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उस से नम्रता पूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है, और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थपरायण और धर्मपरायण दोनों देते हैं। या दोनों में जिसे अति सावधान रहना चाहिए, वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर सजधज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिस से कुछ स्वार्थ निकलना होता है, जिसे बातों में फंसा कर ठगना होता है, उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग ज़रा भी क्रोध नहीं करते, पर उनका यह क्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिस से हमें दुःख पहुंचा है उस पर जो हमने क्रोध किया, यदि वह हमारी दृष्टि में बहुत दिनों तक टिका रहा तो बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह धैर्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता है। वास्तव में क्रोध और बैर में केवल काल भेद है। दुःख पहुंचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ

काल बीत जाने पर वैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हम ने उसे उसी समय मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिये वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उस से बिना फिर गाली सुने हम ने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारण अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते हैं। वे क्रोध करते हैं थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान कराकर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिए लगा दिया है।

—पं० रामचन्द्र शुक्ल

३१

सीता का वन-त्याग

(एक ओर से राम और वासन्ती का तथा दूसरी ओर से सीता और तमसा का प्रवेश) ।

राम—(आते हुए) भगवती गोदावरी ! आपको नमस्कार है ।

वासन्ती—बधाई देती हूं महाराज ! यह सुन कर प्रसन्न हूजिये कि आपकी जानकी देवी का पुत्र स्ववधू सहित जीत गया ।

रा०—चिरञ्जीव ! तुम्हारी विजय हो ।

सी०—(आप ही आप) अरे यह तो इतना बड़ा हो गया ।

रा०—(आप ही आप) देवी बड़भागिनी हो—

नवकंज कोमल कलित कलिकन समदसन की कोर सों ।
सुठि लवलि* पल्लव लेतु जो तुम ललित कानन ओर सों ॥
मद स्रवत बारन-गन विजेता नवल नित जीवन छयो ।
छव तरुन बैस प्रमोद भाजन पुत्र तुव प्यारी भयो ॥ १ ॥

सी०—चिरञ्जीव रहो बेटा, अपनी प्यारी हथिनी के साथ निरन्तर सुख भोगो ।

---

* एक प्रकार की बेल ।

रा०—देखो वासन्ती ! बच्चे ने अपनी प्यारी को रिझाने में कैसी निपुणता प्राप्त की है।

कौतुक मों तोरिकै मृणालपुञ्ज कौर नीके,
करिनी के मुख माहिं मंजुल खवावे है ।
फूले कंज तिन सों सुवासित तड़ाग नीर,
बीच बीच करिके कलूला दौरि प्यावे है ॥ १ ॥
लहकाय सूंड़ि चारु अम्बुकन बिथुराय,
जैसी मन चाहे वाहि वैसो ही न्हवावे है।
सरल सुनालवारी नव नलिनी को पात,
गहिकें सुप्रेम पुनि छतुरी लगावे है ॥ २ ॥

सी०—भगवती तमसा ! जब यह इतना बड़ा हो गया है। तो न जाने कुश लव कितने बड़े हुए होंगे।

त०—जैसा यह है वे भी वैसे ही होंगे।

सी०—हा, ऐसी अभागिनी हूं कि मैं न केवल आर्यपुत्र ही से किन्तु पुत्रों से भी अलग हूं।

त०—भाग्य में ऐसा ही बदा था।

सी०—मैंने पुत्र जनके क्या किया जो छोटे छोटे विलग कोमल कान्तिमय, श्वेत दशनावली द्वारा दीप्त कपोल वाले, निरन्तर मधुर मनोहर मुसकराते हुए, काकपक्ष रखाये मेरे पुत्रों के युगल मुख कमल का आर्यपुत्र ने चुम्बन न किया।

त०—भगवान् सब भला करेंगे।

सी०—भगवती तमसा ! प्यारे पुत्रों का स्मरण करने से मेरे स्तनों

में दूध भर आया है और उनके निकटवर्ती होने से मैं क्षणमात्र के लिये संसारिणी हो गई हूं।

त०—इस में क्या कहना है, सन्तान तो स्नेहातिशय की पराकाष्ठा तथा माता पिता के परस्पर अन्तःकरण का बन्धन है—

लहि सनेह अनुरूप, जबै दम्पति हिय पावन।
जुरत एक गुन आइ दुहूं दिसि सों मन भावन॥
नित आनन्दमय ग्रन्थि अटल अनुपम जो प्यारी।
'नन्दन' कहियत सोइ सुभग सुंदर सुखकारी॥ ३॥

वा०—महाराज! इधर भी देखिये—

नव जोबन जोर उमंग छयो, निज नाचन में जिह उद्धव भारो।
चलि चाल मनोहर चारु कलोलत, लोल नई नई पांखन वारो॥
करि ऊंची सिखाएं कदम्ब पै सोहत मानो मनोजु को मौर सवारो।
जब नाचि चुके तब कूक अलापत, लागे सिखी यह सखी को प्यारो॥४॥

सी०—(कौतुक से आंसू भर कर आप ही आप) वही है, यह वही है।

रा०—आनन्द करो बेटा। आनन्द करो।

सी०—(आप ही आप) ऐसा ही हो।

रा०—तुम ज्यों ज्यों भ्रम्यो फिरकैयनु लै,
प्रिया भौंह चलाय सिहायो करी।
कछु मारि दृगञ्चल चञ्चल सी,
पुतरीन प्रवीन फिरायो करी।
कर पल्लव तारी बजायो करी,
हंसि तोहि प्रमोद नचायो करी।

सुत आज लखाई पर्यो जब सों,
अबलों सुधि तोरि सतायो करी ॥५॥

अहा ! पक्षियों को भी बड़ी पहचान रहती है—

बिरवा यह नीप को नीको लसै,
चहुं चारु प्रसून कछू कन छायो ।
निज हाथ लगाय प्रिया ने उछाह सों,
दे जल याहि सनेह बढ़ायो ॥

सी०—(देख कर आंसू भर कर आप ही आप) इसे आर्यपुत्र ने खूब पहचाना—

रा०—सिय की सुधि राखतु जानि परै,
जिय में यह मोर पहारी सुहायो ।
नित या संग मान नतैती * कछू,
तिहि पै करै आनि प्रमोद सवायो ॥६॥

वा०—महाराज यहां पर बैठिये—

उह दीसति चीकनी चोखी सिला,
कदली द्रुम सों चहुं ओरन छाई ।
सिय संग जहां तुम सोवत हे,
बतारत विनोद भरे सुख पाई ।
अरु बैठि जिन्हैं तृन नूतन दे,
तुम प्यारी चरावत चारु सुहाई ।

---

* नातेदारी, सम्बन्ध

अबलों मृग वे चहुं घेरे रहैं,
कहुं अनत न बैठत ताहि बिहाई ॥७॥

रा०—अब तो यह देखा नहीं जाता (रोते हुए दूसरी जगह बैठते हैं)

सी०—(आप ही आप) सखी, बासन्ती ! इन्हें दिखा कर तुम ने मेरी और आर्यपुत्र की यह क्या दशा कर दी । हाय हाय ! यह वही आर्यपुत्र हैं, वही पंचवटी है; वही प्यारी सखी बासन्ती है, वही विविध स्वच्छन्द विहारों की साक्षी गोदावरी-समीपवर्ती प्रदेश है, वे ही प्राणों से प्यारे पुत्र के समान पाले-पोसे तरु, पक्षी, मृग हैं, वही मैं हूं । पर हाय ! मुझ अभागिनी को दीखते हुए भी यह सब का सब सूना ज्ञान पड़ता है । हाय ! भाग्य के फेर से संसार में कैसा हेर फेर हो गया ।

बा०—सखी सीता ! तुम कहां हो जो देखती भी नहीं कि राम की क्या-दशा हो रही है ।

नीलोत्पल*दल सम नवल तन, जासु सुन्दर सांवरो ।
नयनोत्सव*प्रद लखत रुचि सों, नित नयो गुन आगरो ॥
अति सोच सों व्याकुल उही परि, पीयरो दुर्बल बन्यो ।
जान्यो परत नहिं काउ विधि तउ, लगत सुन्दरता सन्यो ॥८॥

सी०—(आप ही आप) देखती हूं, सखी देखती हूं ।

त०—देखती रहो अपने प्रियतम को देखती रहो ।

सी०—(आप ही आप) हा दैव ! ये मेरे बिना या मैं इन के बिना रहूंगी, यह स्वप्न में भी किसी को सम्भावना थी ? इस क्षण तो

*छन्दोभंग निवारण के लिये "नीलोतपल और नयनोतसव', पढ़ना चाहिए

मानों दूसरे जन्म में इनका दर्शन मिला है । इसलिये पल भर आंसू रोक कर अच्छी तरह प्यारे आर्यपुत्र को देख लूं।

त०—(सप्रेम आंसू भर कर और सीता को छाती से लगा कर)
प्रिय-दरस-सुख अरु विरह-दुख सों, अश्रु अविरल ढारती ।
तिह रूप-प्यासे विगत-अंजन, नयन निज बिसतारती ॥
तुव मधुर मंजुल मुग्ध हेरनि, दुग्ध-सरि सम पावनी।
सुठि करति अभिसेचन पिया को, प्रनय-रस सरसावनी ॥८॥

वा०—मधु बरसावत विपिन-द्रुम देहु सब,
फूल औ फलान के अरघ मन भाये हैं।
संग में आमोद खिले कंजन को लैके मंजु,
मोद सों पवन करें बीजना सुहाये हैं।
चहकि चहूंधा पंछी गावो कल कंठन सों,
बैतालिक जनु ताल के उमंग छाये हैं।
राजोचित सनमान सजो सबै क्यों सु आज,
महाराज राम पुनि यही बन आये ॥६॥ है

रा०—सखी वासन्ती ! आओ यहां बैठें ।

वा०—(बैठ कर आंसू भर कर) महाराज ! कुमार लक्ष्मण तो अच्छे हैं ?

रा०—(अनसुनी करके)

कर कमल सों दै नीर औ नीवार नव तृन विधि भली ।
पादप विहङ्ग कुरङ्ग पोसे चाव चित जे मैथिली ॥

तिन देखि कें जिय सोच व्यापत अकथ अति दुख की कथा।
करि बज्र हिय कोऊ बिदीरन, साल सालत सर्वथा ॥१०॥

वा०—महाराज ! मैं पूछती हूं कुमार लक्ष्मण तो कुशल से हैं ?

रा०—(आप ही आप) अरे इस "महाराज" के कहने में तो बड़ी व्याज-स्तुति भरी है, यह तो केवल स्नेह शून्य सम्बोधन है। बस लक्ष्मण की कुशल पूछने में इस का कण्ठ भर आया, और नेत्रों से नीर बहने लगा। इस से हो न हो, यह सीता का भी वृत्तान्त जान गई है। (प्रकट) हां, कुमार अच्छी तरह हैं।

वा०—हे देव ! आप ऐसे कठोर क्यों हो गए ?

सी०—(आप ही आप) सखी वासन्ती! ऐसे ताने क्यों मार रही हो ? आर्यपुत्र से सब को मीठा बोलना चाहिये, और विशेषकर तुम को जो हमारी प्यारी सखी हो।

वा०—तुम ही जिय प्राण सबै कछु हौ,
तुम हो मम दूजो हियो सुकुमारी।
तुम हो तन काज सुधा सरिता,
इन नैनिन को तुम हो उजियारी ॥
हिय भोर को योंहि लई भरमाइ के,
बात बनाय पियारी पियारी।
पुनिता सियकों बस मौन भलो,
अब होत कहा कहिबे सों अगारी ॥१॥

(मूर्छित होती है)

रा०—(आप ही आप) पूरा भी न कहने पाई कि मूर्छित हो गई—
(प्रकट) सखी धीरज धरो, धीरज धरो।

बा०—तो आप ने ऐसा अयोग्य कार्य क्यों किया ?

सी०—(आप ही आप) सखी बासन्ती ! रहने दो इस में क्या रक्खा है ?

रा०—क्या करूं ? दुनिया तो मानती ही न थी।

बा०—इसका कारण ?

रा०—वे ही जानें।

त०—(आप ही आप) उलहना बहुत ठीक है।

बा०—तिहारो जो प्यारो सुजस निरमोही यदि महा।
सिया के त्यागे सों कुजस अति भारी अरु कहा ?
भला बीती कैसे मृगनयनी पै वा विपिन में।
अहो स्वामी दीजै उत्तर यहि को सोचि मन में ॥ १२ ॥

सी०—(आप ही आप) सखी बासन्ती ! तुम बड़ी कठोर हो जो दुःखी आर्यपुत्र को और भी दुःख दे रही हो।

त०—वह कुछ थोड़ा ही कह रही है, स्नेह और शोक इस से सब कहला रहा है।

रा०—सखी ! इसके सिवाय और क्या कहें—
मृग-सावक के से विलोल-महाभय-
पूरित चकित लोचन वारी।

अरु कम्पित गर्भ के भार सों जो;
अलसाइ रही तन में अति भारी।
मृदु मंजु मृनाल सी कोमल जो,
नित चन्द सो जाकी दुचन्द उज्यारी।
बन बीचहि है रजनीचर नीच ने,
सुन्दरि सोई विनासि के डारी ॥ १३ ॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र ! मैं तो जीती जागती हूं।

रा०—हाय प्यारी जानकी ! तुम कहां हो ?

सी०—हाय हाय ! आर्यपुत्र तो बिलख-बिलख कर रो रहे हैं।

त०—बेटी ! दुखिया के पास अपना दुःख दूर करने को रोना एक मात्र उपाय है, क्योंकि—

उपटि पूर्ण तड़ाग जबै भरे।
जल निकासन तासु प्रतिक्रिया ॥
विपुल शोक दशा मधि हू तथा।
रुदन धीरज को सदुपाय है ॥ १४ ॥

और विशेष करके राम को तो यह संसार अनेक रूप से दुःखदायी हो रहा है।

चित लगाय इत पालिबौ; प्रजा नीति अनुकूल।
उत प्यारी-विरह-तपनि, कुम्हिलानो जय-फूल ॥
तजि तिहिकों अब अपुहि पुनि, करत बिलाप बनै न।
जियत अजहुं यहि सों प्रगट, रोदन निरफल है न ॥ १५ ॥

रा०—हाय बड़ा कष्ट है।

प्रिय-वियोग छाती फटै, आवति पै न दरार ।
काया तजै न चेतनहि, बेसुधि विकल अपार ॥
जरति, करति पै भसम ना, दौं लागी तन माहिं ।
हृदय विदारत निरत विधि, निर्दय मारत नाहिं ॥ १६ ॥

सी०—प्रिय-वियोग ऐसा होता है ।

रा०—हे पुरवासियो !

जब राज मन्दिर में बसत सिय हा तुम्हैं भाई नहीं ।
तृन सम तजी बन विजन में तउ मन विथा छाई नहीं ।
यहि हेतु रोवन काज चाहतु आज तुम आयसु कियो ।
रोवत अमरनहिं लखि पसीजत क्यों न तुव वज्जर हियो ॥ १७ ॥

त०—(आप ही आप) शोक-सागर का गम्भीर और बड़ा अनिवार्य भ्रमर है ।

बा०—महाराज ! बीती को बिसार कर धीरज धरना चाहिये ।

रा०—सखी क्या कहती हो ? धीरज !

बीत गये बारह बरस, बिन सीया सी बाम ।
तासु नाम तक हू मिट्यो जियत तऊ यह राम ॥१८॥

सी०—आर्यपुत्र की इन बातों ने मुझे मोह लिया ।

त०—यथार्थ है बेटी—

प्रेम पगे जासों परम, जिय की रुचि सरसात ।
दारुन सोक समूह सनि, अति अप्रिय दरसात ॥
तेरे पिय के ये बचन, मृदु कटु जुगल अपार ।
का नहिं ढारत तुव हिये, अमिय गरल की धार ॥१६॥

रा०—सखी वासन्ती—

तीखी मनु तिरछी अनी, बरछी की विसलीन।
का हिय गाढ़ी सोक की, मैंने विथा सही न ॥ २० ॥

सी०—(आप ही आप) मैं ऐसी मन्दभागिनी हूं कि जिसके कारण वारम्वार आर्यपुत्र को दुःख होता है।

रा०—बड़ी धीरता पूर्वक अपने हृदय को थाम लेने पर भी पूर्व परिचित प्रिय पदार्थों के देखने से दुःख का आवेग आज फिर अनिवार्य हो गया है।

छुभित विचश्चल सोक की, हिय में उठत हिलोर।
रोकन तिहि कैसेउ किये, जो जो जतन कठोर॥
छायो चित्त विकार, तिनहुं तोरि अकथित कोऊ।
हरत प्रवल जलधार, जिमि दृढ़ सिकता सेतु को ॥२१॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र का ऐसा दुर्निवार्य दुःसह दुःखावेगा देखकर मेरा हृदय भी इस समय अपना दुःख भूल कुछ जड़ित स्तम्भित सा हो गया है।

वा०—(आप ही आप) महाराज की बड़ी शोचनीय अवस्था हो गई है। किसी दूसरी ओर चित्त बटाना चाहिये। (प्रकट) हे देव, अब चिर-परिचित वन स्थान के भागों को देख कर अपना मनोरंजन कीजिये।

रा०—अच्छा यही करें।

सी०—(आप ही आप) सखी जिन्हें मनोविनोद का उपाय समझती है, वे उलटे और दुःख की आग भड़काने वाले हैं।

वा०—(करुणा से) हे नाथ ।

एही लता गृह तुम प्रिय की, बाट हेरी जो घनी ।
गोदावरी तट निरखि हंसनि, ठिठकि रहि कौतुक सनी ॥
आवत कछुक तुव मलिन मन लखि, जियहि कातर मैथिली ।
जोरे जुगल कर कलित कोमल, कमल कुण्डल अञ्जली ॥२२॥

सी०—(आप ही आप) सखी ! तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है, जो तुम हृदय में लगे मर्मभेदी शोक-शल्यों को बार बार कुरेद कर मन्दभागिनी तथा आर्यपुत्र को व्यथित करती हो ।

रा०—हे कठोर-हृदय जानकी ! इन दृश्यों के देखने से यह पता लगता है कि तुम यहीं कहीं विचर रही हो, फिर मुझ अभागे पर दया न करने का क्या कारण है—

हा हा प्यारी फटत हृदय यह, जगत शून्य दरसावै ।
तन बन्धन सब भए शिथिल से, अन्तर-ज्वाल जरावै ॥
जीवन जनु डूबत जिय तम में, छिब छिन धीरज छीजै ।
मोहावृत सब ओर राम यह, मंद भाग्य का कीजै ॥२३॥

(मूर्छित होते हैं)

सी०—हाय हाय ! आर्यपुत्र फिर बेसुध हो गये ।

वा०—धीरज धरो, महाराज ! धीरज धरो ।

सी०—(आप ही आप) हा आर्यपुत्र ! केवल मुझ अभागिनी के

लिए समस्त संसार के मंगलाधार रूप आप का जीवन प्रतिक्षण दारुण संशयावस्था में पड़ रहा है। इससे भारी विपत्ति की आशङ्का उपस्थित है। हाय ! अब मैं क्या करूं ?

त०—बेटी ! घबड़ाने का काम नहीं है। रामचन्द्र का पुनर्जीवन तुम्हारे ही पाणि-पल्लव के स्पर्श से होगा।

वा०—(आप ही आप) क्या अभी तक चेत नहीं हुआ ! हाय प्यारी सखी सीता ! तुम कहां हो ? अपने प्राणेश्वर की रक्षा करो।

सी०—(शीघ्रता से पास जाकर राम का हृदय और ललाट छूती है)

वा०—अहा ! रामचन्द्र को फिर चेत लौट आया।

रा०—मनहु-अमिय-मय लेप सो लेपत परम सुहातु।
सबै भीतरी बाहरी, मो सरीर की धातु ॥
औचक ही प्रिय परस यह, पुनरपि प्राणहिं लाय।
और कछू विधि को सुखद, देत मोह उपजाय ॥ २४॥
(आनन्द से नेत्र बन्द करके) सखी वासन्ती !
फिर भाग्य उदय हुआ है।

वा०—कैसे महाराज ?

रा०—सखी कैसे क्या ? जानकी फिर प्राप्त हो गई !

वा०—सो कहां से महाराज ?

रा०—(स्पर्श-सुखानुभव करते हुए) देखो यही तो है आगे।

वा०—महाराज, इन अपने मर्मभेदी दारुण प्रलापों से मुझ अभागिनी को क्यों दुःखित करते हो, मैं तो आपके दुःख से जल रही हूं।

सी०—(आप ही आप) मैं अब हटना चाहती हूं। किन्तु अविचल अनुराग भरे, प्राणनाथ के सुखद, शीतल दीर्घ-दारुण-संताप-हरण स्पर्श से पसीज कर कांपता हुआ यह मेरा हाथ जहां का तहां जड़ीभूत होकर ऐसा विवश हो गया है, मानों किसी वज्रलेप से जकड़ गया हो।

रा०—सखी! इन में काहे का प्रलाप है?

ब्याह समय जो गह्यो मुदित-मन प्रथमहिं कङ्कन धारी।
चिर-परिचित जिह सुलभ सुधा सी परसनि परम पियारी॥

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र! अभी तक आप वही हैं।

रा०—हिम सम शीतल, हियतल सुखप्रद
मृदुल मंजु मन भायो।
लखत वही कर लह्यो ललित जिन,
लवली* दलहि जलायो॥ २५॥

(ऐसा कह कर पकड़ते हैं)

सी०—(आप ही आप) हाय हाय! प्राणपति के प्रिय स्पर्श से मोहित होकर मुझ से चूक हो गई।

रा०—सखी वासन्ती! आनन्द के मारे मेरी इन्द्रियां अपने अपने कर्तव्य पालन में शिथिल हो गई हैं, मेरे बस की बात नहीं

---

* एक प्रकार की लता जो पूर्व देश में पाई जाती है।

रही है । इससे थोड़ी देर तक इनके हाथ को तुम ही थामे रहो ।

वा०—(आप ही आप) हाय हाय ! इन्हें तो उन्माद हो गया ।

सी०—(सीता जल्दी से हाथ छुड़ा कर अगल हो जाती है)

रा०—हाय ! अनर्थ हो गया—

मो जड़ कम्पित स्वेद-मय, कर सन मन मुद दानि ।
छिटकि पर्यो कित जड़ कंपत, तासु पसीजत पानि ।२६।

सी०—(आप ही आप) हां अभी इनकी निगाह ठीक नहीं हुई है, ठीक ठीक वस्तु पहचानने में असमर्थ तथा चकराती सी मालूम देती है । इससे जाना जाता है कि आर्यपुत्र अपने आपे में नहीं आये ।

त०—स्नेह से देख कर (आप ही आप)

श्रम-सीकर कन सों छयी, कांपति औ पुलकाति ।
पिय-तन-परस-उमंग सों, बेटी अस दरसाति ॥
जनु चलि चंचल पवन बस, घन बूंदन के भार ।
मुकुलित कलिन कदम्ब की कलित डहडही डार ।२७।

सी०—(आप ही आप) अरे अपने आप पर अधिकार न रहने से मुझे तमसा जी के सामने लज्जित होना पड़ा । अपने मन में भला यह क्या कहेंगी कि कहां तो राम द्वारा इनका ऐसा परित्याग और कहां उन पर इनके हृदय का ऐसा अनुराग ।

रा०—(सब ओर देखकर) क्या यथार्थ में नहीं है ! हाय ! वैदेही तुम बड़ी निठुर हो।

सी०—(आप ही आप) सचमुच मैं बड़ी निठुर हूं जो प्राणनाथ ! तुम्हें ऐसी दशा में देखकर भी प्राण धारण करती हूं।

रा०—देवी ! कुछ तो पसीजो, मुझे ऐसी दशा में परित्याग करना तुम्हारे लिए योग्य कहीं है।

सी०—(आप ही आप) आर्यपुत्र ! यह तो आप विपरीत कह रहे हैं।

वा०—महाराज ! धीरज धरिये। अपनी असाधारण धीरता को काम में लाकर गहरी वियोग विथा में डूबे हुए अपने आप को सम्हाले रहिये। भला यहां मेरी प्यारी सखी कहां ?

रा०—(आप ही आप) व्यक्त रूप में जानकी नहीं है। होती, तो क्या वासन्ती न देखती ? तो क्या यह स्वप्न हुआ ? रामचन्द्र के नयनों में निगोड़ी नींद कहां, जो स्वप्न हो। बस प्यारी से मिलने का जो निरन्तर ध्यान बना रहता है उसी से पैदा हुआ निःसन्देह यह विकट उन्माद है जो मुझे अनेक कल्पनाओं में डाल कर बारबार सताता रहता है।

सी०—आर्यपुत्र की इस दशा का कारण मैं ही वज्र हृदय वाली हूं।

वा०—महाराज !

दसकंध को यह गृद्ध-नासित लोहमय रथ देखिये।
पुनि तासु खर भीषन बदन कह अस्थि अब अप रेखिये।
तिह पंख हीन, रिपु लै गयो नभ पंथ सो तुम भामिनी।
अति बिलबिलाती बिबस पल पल दमकि जनु घन दामिनी
॥२८॥

सी०—(भय से आप ही आप) आर्यपुत्र ? तात जटायु को यह दुष्ट मारे डालता है और मुझे भी हरे लिये जाता है, आइये, आइये, शीघ्र बचाइये।

रा०—(शीघ्र उठ कर आप ही आप) महात्मा जटायु के प्राणों और सीता के हरने वाले अरे पापी ! खड़ा तो रह, कहां जाता है ?

वा०—हे देव, राक्षसकुलधूमकेतु ! अभी तक आप का क्रोध ठंडा नहीं हुआ है !

सी०—(आप ही आप) हाय, मैं भी पागल हो गई हूं।

रा०—यथार्थ में अबकी तो यह प्रलाप ही है।
अनुकूल-सुन्दर-जतन मय, नित-विरह-दुख अपनोद में।
बहु-वीर-नासन-जनित अद्‌भुत वीर भाव विनोद में॥
अविदित-बिथा-कर सिय बिरह तव शत्रुदल बध लों रह्यो।
अबको वियोग अथाह निरवधि जाइ कहुं का विधि सह्यो॥२९॥

सी०—(आप ही आप) यह निरवधि है तो हाय अब मेरे प्राण कैसे रहेंगे।

रा०—(आप ही आप) हाय ! क्या करूं,

जहां कपिराज सुग्रीव-मित्रता विफल,
वे अरथ दल बल वानर को भारी है ।
कछु न प्रभंजन-कुमार की चलति जहां,
जामवन्त हू की बुधि थकित विचारी है ।
पथ न बनाय सकै विश्वकर्मा को पूत—
नल, जिह ठाम की, अकूत बल धारी है ।
गति न लछिन वीर बानतु ने जानी जहां ।
कहां जाय तू समानी हाय प्राण प्यारी है ॥३०॥

सी०—(आप ही आप) इस से तो पहिला ही वियोग अच्छा रहा ।

रा०—सखी वासन्ती, अब जैसे जैसे प्रिय पदार्थों का दर्शन होगा वैसे वैसे राम का कष्ट बढ़ता ही जायगा, मेरे पीछे तुम कब तक रुदन करोगी । हाय, मैं कैसा अभागा हूं कि मेरा मिलना सुहृदों को भी दुःख पहुंचाता है । इस से मुझे अब जाने दो ।

सी०—(मोह और उद्वेग से तमसा के गले लगकर) तो क्या आर्यपुत्र अब चले ही जायंगे ?

त०—बेटी ! हृदय संभालो, हमें भी तो चिरंजीव लव, कुश की बरसगांठ का उत्सव करने भगवती भागीरथी के समीप जाना है ।

सी०—माता ! कुछ तो दया करके ठहरिये, और क्षण भर मुझे इनके दर्शन कर लेने दीजिये । हाय, फिर मिलना कहां ?

रा०—अश्वमेध यज्ञ के लिए मेरी भी एक सहधर्मचारिणी...

सी०—(घबरा कर आप ही आप) वह कौन है आर्यपुत्र !

रा०—सीता की सुवर्णमयी मूर्ति है।

सी०—(आप ही आप) यथार्थ में आप स्वनामधन्य आर्यपुत्र ही हैं, उस परित्यागमयी लाज का कांटा अब मेरे हृदय से दूर हुआ।

रा०—उसी के दर्शन से शोकाश्रु बहाते हुए इन नयनों को शीतल करूंगा।

सी०—(तमसा से) वह धन्य है जिसका आर्यपुत्र इतना आदर करते हैं और जो उनका मनोनिवोद कर संसार की सब सुमंगल आशाओं की आश्रय बनी है।

त०—(मुस्कराती हुई स्नेह से सीता को गले लगा कर) बेटी, इसमें तो तुम अपनी ही बड़ाई करती हो।

सी०—(सलज्ज नीचा मुख कर आप ही आप) भगवती तमसा से मैंने अपनी हंसी कराई।

वा०—इस समागम से आपको बड़ा कष्ट हुआ, मैं ही इस शोकोद्दीपन का कारण हुई, और जाने के लिये, जिस में आप के कार्य की हानि न हो वैसा ही कीजिये।

सी०—(आप ही आप) वासन्ती ही अब मेरी वैरिन हो गई।

त०—आओ बेटी चलें।

सी०—(कष्ट से) जो आज्ञा।

ता०—कैसे चलना हो, तुम्हारे तो—

-बरसन के प्यासे अड़े, पिया दरस में नैंन।
बड़े बड़े बहुजतन करि, टारे सो हु टरैं न ॥३१॥

सी०—अपूर्व पुण्यों से प्राप्त हुए आर्यपुत्र के चरण कमलों में बारम्बार प्रणाम है।

(मूर्छित होती है)

त०—बेटी धीरज धरो, धीरज धरो।

सी०—(सावधान होकर) हाय, मेघाच्छन्न पूर्ण चन्द्रमा की भांति प्राणनाथ के मुखचन्द्र का दर्शन दुर्लभ सा हो गया।

रा०—विमानराज यहां आइये।

(सब उठते हैं)

त०—और बा०—(सीता और राम की ओर देखकर)

अब हम सबनि के सहित जननी अवनि अरु मंदाकिनी
रवि वालमीकि महामुनी जिन प्रथम ही कविता भनी।
अति देव देव वसिष्ठ सह सहधर्मिणी, सब अघ हरैं।
कल्याण मान प्रदानमय, सब भांति तव मंगल करैं ॥३२॥

सत्यनारायण कविरत्न।
(उत्तररामचरित से)

—:०:—

हिन्दी-सुमन-गुच्छ

पद्य भाग

१

सृष्टि-रचियता की महिमा

विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत् को लीला दिखा रही हैं॥
प्रसार तेरी दया का कितना यह देखना हो तो देखो सागर।
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे तरङ्ग-मालायें गा रही हैं॥
तुम्हारा स्मित जिसे हो निरखना वह देख सकता है चंद्रिका को।
तुम्हारे हंसने की धुन में नदियां निनाद करती ही जा रही हैं॥

—जयशङ्करप्रसाद

\+ + +

२

मेरा देश

सब प्रकार से सुन्दर सुखकर, सरस सुहावन मेरा देश।
जिसने मुझे यहां जनमाया, धन्य-धन्य है वह परमेश॥
उषा यहां आती रङ्ग राती, लिये हाथ सोने का थाल।
त्यों सन्ध्या मुसकाती आती, पहने जगमग मुक्ता माल॥
दिन में रवि की दिव्य किरण, भरती हैं दशदिश पूर्ण प्रकाश।
विमल चांदनी निशि में करती, अमल धवल धरती आकाश॥
छः ऋतुओं का क्रम-क्रम होता, जहां नियम से पुण्य प्रवेश।
सब प्रकार से सुन्दर सुखकर, सरस-सुहावन मेरा देश॥
खिलता जहां कमल रस-पूरित, विकसित होता जहां गुलाब।
स्वर्ण-फूल सा गेंदा हंसता, बेला भरती नूतन भाव॥
मौलिश्री निज पुण्य-रूप में, तारों की वर्षा करती।
चम्पा अपने सुरभि-स्रोत से, बरबस पथिक हृदय हरती॥
भौंरे का वह गुन-गुन गाना, तितली का वह सुन्दर वेश।
सब प्रकार से सुन्दर सुखकर, सरस सुहावन मेरा देश॥
जहां टपकते आम सदृश फल, लीची मन को ललचाती।
केले का वह बौंद सुनहला, नारिकेल की बहुपांती॥
जहां दाख अंगूर लटकते, बड़े भले गुच्छों वाले।
दानेदार अनार बना देते हैं, रस से मतवाले॥

जो 'सुफला है, सस्य-श्यामला,' जहां न कभी झांकता क्लेश ।
सब प्रकार से सुन्दर सुखकर, सरस सुहावन मेरा देश ।
जिसने मुझे यहां जनमाया, धन्य धन्य है वह परमेश ।।

—['बालक' से]

\+ + +

३

वीर-वचनाली

निज बल से बलि के बन्धन को तोड़ न सका पैठि पाताल ।
शशि-कलङ्क मैंने नहिं मेटा, मेरे हाथों मरा न काल ।।
शेष-सीस से धरा छीन कर, ले न सका सिर उनका भार ।
शत्रु-शमन कर सका न अपना, लाख बार मुझको धिक्कार ।१।
खा कर जिसे उगल देते हैं फिर उसको ही खाते श्वान ।
छोड़ दिया है जिसे उसे फिर, छूते नहीं कभी मतिमान ।।
प्राणों ही के साथ सर्वदा, प्रण भी उनका जाता है ।
शीतल कभी न होता पावक, बुझ जरूर वह जाता है ।२।
खा कर लात शान्त जो रहते साधु नहीं वह पूरे मूढ़ ।
मारो लात धूलि पर देखो, हो जावेगी सिर आरूढ़ ।।
रिपु से बदला लिए बिना ही कायर नर रह जाते हैं ।
तेजस्वी जन उनके सिर पर पद रख यश फैलाते ।३।

—रामचरित उपाध्याय

\+ + +

४

समय

अभी समय है, अभी नहीं कुछ भी बिगड़ा है,
देखो अभी सुयोग तुम्हारे पास खड़ा है।
करना हो जो काम उसी में चित्त लगा दो,
आत्मा पर विश्वास करो सन्देह भगा दो ॥१॥
पूर्ण तुम्हारा मनोऽभीष्ट क्या कभी न होगा,
होगा तो बस अभी, नहीं तो कभी न होगा।
देख रहे हो श्रेष्ठ समय के किस सपने को,
छलते हो यों हाय! स्वयं ही क्यों अपने को ॥२॥
आवेगा क्या समय, समय तो चला जा रहा,
देखो जीवन व्यर्थ तुम्हारा छला जा रहा।
तो पुरुषों की भांति खड़े हो जाओ अब भी,
करके कुछ जग बीच बड़े हो जाओ अब भी ॥३॥
उद्योगी को कहां नहीं सुसमय मिल जाता,
समय नष्ट कर नहीं सौख्य कोई भी पाता।
आलस ही यह करा रहा है सभी बहाने,
जो करना हो करो अभी, कल हो क्या जाने ॥४॥
पा सकते फिर नहीं कभी, तुम इसको खोके।
चाहो तुम क्यों नहीं चक्रवर्ती भी होके।
कर सकता कब कौन द्रव्य है इसकी समता,
फिर भी तुम को नहीं ज़रा भी इसकी ममता ॥५॥

समय ईश का दिया हुआ अति अनुपम धन है,
यही समय ही अहो ! तुम्हारा शुभ जीवन है।
इसका खोना स्वयं स्वजीवन का खोना है,
खोकर इसको आयु स्वल्प स्वयमपि होना है ॥६॥
तुच्छ कभी तुम नहीं एक पल को भी जानो,
पल पल से ही बना हुआ जीवन को मानो।
इसके सद्व्ययरूप नीर-सिञ्चन के द्वारा;
हो सकता है सफल जन्म-तरु यहां तुम्हारा ॥७॥
ऐसा सुसमय भला और कब तुम पाओगे,
खोकर पीछे इसे सर्वथा पछताओगे ।
तो इस में वह काम नहीं क्यों तुम कर जावो,
हो जिस में परमार्थ तथा तुम भी सुख पावो ॥८॥

——सियाराम शरण गुप्त ।

\+ + +

५

शील

[१]

संग्रह करो करोड़, लुटाओ धन अनगिन्ती।
ऊंचे आसन बैठ, सुनो दासों की विन्ती ॥
निज प्रभुता के हेतु, करो तुम सब कुछ नीका।
किन्तु शील के बिना, सभी है जग में फीका ॥

[२]

कहते हैं कवि-लोग शील भारी भूषण है।
शील-हीन नर भूमि-भार निज-कुल दूषण है॥
दान, मान, यश, रूप, शूरता, साहस, आने।
मोती सम हैं सब गुण, शील-माला के दाने॥

[३]

शब्द-कोश में 'शील' शब्द व्यापक है इतना,
गीता में भी धर्म नहीं है व्यापक जितना।
आगे रख कर शील, धर्म निज गुण दरसावे।
गुण-वाचक सब नाम, अकेला शील बनावे॥

[४]

शील नम्रता सबल, सत्यता है अति प्यारी।
न्याय सहित है दया प्रेम-पूरण-अविकारी* ॥
सदाचार है शील, शील विद्या पढ़ना है।
तन-मन-धन से सदा, शील आगे बढ़ना है॥

[५]

शील सत्य, वैराग्य दण्ड यति का धारण है।
यही यज्ञ व्रत कर्म, परम-पद का कारण है॥
यही ज्ञान विज्ञान, यही है गुण चतुराई।
ऊंचे कुल का चिह्न, देह-मन की रुचिराई॥

---

*छन्दोभंग दूर करने के लिये यहां 'पूर्ण' के स्थान मे 'पूरण' लिखा गया है।

[६]

सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना ।
अवगुण काले नाग, जानते नहीं ठिकाना ।
धर्म शील के बिना यथारथ धर्म नहीं है ।
शीलवान को सकल, स्वर्ग-आनन्द यहीं है ॥

[७]

शील त्याग नर वृथा, धर्म का अभिलाषी है ।
अपना अन्तःकरण, सत्य इसका साक्षी है ॥
कपट, क्रोध, अभिमान न हिय से जिनके छूटा ।
पुण्य उन्होंने कौन, जगत में आकर लूटा ? ॥

[८]

जिस ने आदर सहित गुणी को नहीं बिठाया ।
दीन-प्रणाम विलोकि, हाथ कुछ भी न उठाया ॥
मधुर वचन सुन मधुर वचन जो कभी न बोला ।
विधि ने किया अनर्थ, दिया उसको नर चोला ॥

[९]

विद्या बढ़ती जिन्हें नहीं दीनों की भाती ।
जिन की इच्छा कुटिल आप-सुख में है माती ।
करें न जो स्वीकार, दया अपने छोटे की ।
धर्म करेंगे भला, कौन ये लोग कुटेकी ॥

*छन्दोभंग दूर करने के लिये यहां 'यथार्थ' के स्थान में 'यथारथ' लिखा गया है ।

[१०]

अपने चारों ओर, देख दुख-दारुण छाया ।
एक विपल भी जिन्हें, दुखी का ध्यान न आया ॥
जिन्हें परोदय देख, कष्ट होता है भारी ।
क्या है जग को लाभ ? हुए जो ये अधिकारी ॥

[११]

निज भाषा का प्रेम, धर्म-रति, देश-भलाई ।
होकर सब सम्पन्न, जगत में जिन्हें न भाई ॥
जीभ दबा कर बात जिन्हों ने सदा उचारी ।
ऐसे ही नर बने हुए हैं धर्माचारी ॥

[१२]

सब धर्मों को छोड़, शील-व्रत ही अब धारो ।
शील धर्म है, गिरा हुआ है, इसे उबारो ॥
बीज कपट का बोय, सत्य-फल कहां मिलेगा ?
अहो शिला पर, कहो, कमल किस भांति खिलेगा ?

—पं० कामता प्रसाद

\+ \+ \+

६

ग्राम्य जीवन

अहा ! ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे ।
थोड़े में निर्वाह यहां है, ऐसी सुविधा और कहां है ॥ १ ॥

यहां शहर की बात नहीं है, अपनी अपनी बात नहीं है ।
आडम्बर का नाम नहीं है, अनाचार का काम नहीं है ॥ २ ॥

भोगों में वह भक्ति नहीं है, अधिक इन्द्रियासक्ति नहीं है ।
आलस में अनुरक्ति नहीं है, रुपयों में ही शक्ति नहीं है ॥ ३ ॥

वह अदालती रोग नहीं है, अभियोगों का योग नहीं है ।
मरे फौजदारी की नानी, दीवानी करती दीवानी ॥ ४ ॥

यहां गठकटे चोर नहीं हैं, तरह तरह के शोर नहीं हैं ।
गुंडों की यहां बन न आती, इज्जत नहीं किसी की जाती ॥ ५ ॥

सीधे साधे भोले भाले, हैं ग्रामीण मनुष्य निराले ।
एक दूसरे की ममता है, सब में प्रेममयी समता है ॥ ६ ॥

यद्यपि वे काले हैं तन से, पर अति ही उज्जवल हैं मन से ।
अपना या ईश्वर का बल है, अन्तःकरण अतीव सरल है ॥ ७ ॥

प्रायः सब की सम विभूति है, पारस्परिक सहानुभूति है ।
कुछ भी ईर्षा द्वेष नहीं है, कहीं कपट का लेश नहीं है ॥ ८ ॥

सब कामों में हिस्सा ले कर, पति को अति सहायता देकर ।
प्राणों से भी अधिक प्यारियां, हैं अर्द्धाङ्गी ठीक नारियां ॥ ९ ॥

गुदने गुदे हुए हैं तन में, भरी सरलता है चितवन में ।
थोड़े से गहने पहने हैं, क्या आपस में सब बहनें हैं ॥ १० ॥

बात बात पर अड़ने वाली, गहनों के हित लड़ने वाली ।
दिखलाने वाली दुर्गतियां, हैं न यहां ऐसी श्रीमतियां ॥ ११ ॥

छोटे से मिट्टी के घर हैं, लिपे पुते हैं, स्वच्छ सुघर हैं ।
गोपद-चिह्नित आंगन तट हैं, रक्खे एक ओर जलघट हैं ॥ १२ ॥

खपरैलों पर बेलें छाईं, फूली, फली, हरी मन भाईं।
काशीफल, कूष्मांड कहीं हैं, कहीं लौकियां लटक रही हैं॥ १३ ॥
है जैसा गुण यहां हवा में, प्राप्त नहीं डाक्टरी दवा में।
सन्ध्या-समय गांव के बाहर, होता नन्दन-विपिन निछावर॥ १४ ॥
श्रम-सहिष्णु सब जन होते हैं, आलस में न पड़े सोते हैं।
दिन दिन भर खेतों पर रह कर, करते रहते काम निरन्तर॥ १५॥
अतिथि कहींजब आ जाता है, वह आतिथ्य यहां पाता है।
ठहराया जाता है ऐसे, कोई सम्बन्धी हो जैसे॥ १६ ॥
हुआ कभी कोई फरयादी, तो न उसे आती बरबादी।
देतीं दाद उसे चौपालें, फिर क्यों वे घूंसों घर घालें॥ १७ ॥
जगती कहीं ज्ञान की ज्योती, शिक्षा की यदि कमी न होती।
तो वे ग्राम स्वर्ग बन जाते, पूर्ण शान्ति-रस में सन जाते॥ १८ ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

\+ \+ \+

७

भगतिन बिल्ली

मिली कहीं तुलसी की माला, लेकर उसे गले में डाला॥ १ ॥
तन में अपने राख लगाया, बैरागी का रूप बनाया॥ २ ॥
अपना पहला पाप मिटाने, बिल्ली चली प्रयाग नहाने॥ ३ ॥
चूहों से बोली हे प्यारे, छमो सभी अपराध हमारे॥ ४ ॥
मैंने किए हज़ारों पाप, तुम्हें दिये कितने सन्ताप॥ ५ ॥
कर उन सब पापों का ख्याल, मैंने छोड़ा जग जंजाल॥ ६ ॥
अब जाती हूं तीरथ* करने, राम राम रट रट कर मरने॥ ७ ॥

---

*शुद्ध रूप 'तीर्थ'।

पकड़ो तुम अब मेरा हाथ, तीरथ करो हमारे साथ ॥ ८ ॥
चूहे किये न सोच विचार, सत्तू बांध हुए तैयार ॥ ६ ॥
ज्यों ही पहुंचे पुल के पास, करने लगी बिलैया नास ॥ १० ॥
पकड़ पकड़ कर खाने उनको, ले ले खूब चबाने उनको ॥ ११ ॥
दुश्मन को तुम मित्र न जानो, उसका कहा भूल मत मानो ॥ १२ ॥

\+ \+ \+

८

एक बूंद

ज्यों निकल बादलों की गोद से ।
थी अभी इक बूंद कुछ आगे बढ़ी ॥
सोचने फिर फिर यही जी में लगी ।
आह क्यां घर छोड़ कर मैं यो कढ़ी ॥१॥
देव मेरे भाग्य में है क्या बदा ।
मैं बचूंगी या मिलूंगी धूल में ॥
या जलूंगी गिर अंगारे पर किसी ।
चू पड़ूंगी या कमल के फूल में ॥२॥
बह गई उस काल इक ऐसी हवा ।
वह समुन्दर ओर आई अनमनी ॥
एक सुन्दर सीप का मुंह था खुला ।
वह उसी में जा पड़ी मोती बनी ॥३॥
लोग यों ही हैं झिझकते, सोचते ।
जब कि उनको छोड़ना पड़ता है घर ॥

किन्तु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें ।
बूंद लौं कुछ और ही देता है कर ॥४॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

\+ \+ \+

९

फूल और कांटा

जन्म लेते हैं जगह में एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता ।
रात में उन पर चमकता चांद भी,
एक ही सी चांदनी है डालता ॥१॥
मेंह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवायें हैं वहीं ।
पर सदा ही यह दिखाते है हमें,
ढंग उनके एक से होते नहीं ॥२॥
छेदकर कांटा किसी की उंगलियां,
फाड़ देता है किसी का वर वसन ।
प्यार-डूबी तितलियों का पर कतर,
भंवर का है वेध देता श्याम तन ॥३॥
फूल लेकर तितलियों को गोद में,
भंवर को अपना अनूठा रस पिला ।
निज सुगन्धों औ निराले रंग से,
है सदा देता कली जी की खिला ॥४॥

है खटकना एक सब की आंख में,
दूसरा है सोहता सुर सीस पर।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर ॥५॥

पं० अयोध्यसिंह उपाध्याय।

\+ \+ \+

१०

कांटा और फूल

है न कांटों सा उभरना काम का,
क्या रहा जब दूसरों को दुख दिया।
सीख लेवें क्यों न खिलना फूल सा,
जब किया तब और को पुलकित किया ॥१॥
रंग जिन पर हो भलाई का चढ़ा,
सब जगह उनकी घटी सब दिन रही।
डालियों में है न कांटों की कमी,
पर दिखाते फूल हैं दो चार ही ॥२॥
जब उठीं आंखें हमें कांटे मिले,
नोक अपनी वैसी ही सीधी किये।
पर नहीं जाना निराले फूल ये,
कब खिले औ किस समय कुम्हला गए ॥३॥
क्या बतावें है कलेजा मल रहा,
कुछ न कांटों का हुआ इनके किये।

धूप निकली, लू चली, आंधी उठी,

हा ! इन्हीं सुकुमार फूलों के लिए ॥४॥

दूर आंखों से न वह कांटा हुआ,

नोक से जिसकी लहू कितना बहा ।

पर विचारी तितलियों के वास्ते,

दो दिनों भी फूल का न सभां रहा ॥५॥

किस लिये कांटे बहुत दिन तक रहे,

आह ! मेरा जी बहुत खिजला गया ।

किस लिये इतना अनूठा फूल यह,

आज फूला और कल कुम्हला गया ॥६॥

दो दिनों भी फूल यह पाया नहीं,

पर बहुत दिन तक रहे कांटे अड़े ।

जो भले हैं, सब जिन्हें हैं चाहते,

कब न जीने के उन्हें लाले पड़े ॥७॥

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

\+ \+ \+

१४

योगिराज श्रीकृष्ण

विश्व विलास केलि सञ्चालक, भुवनेश्वर लोकत्रयपालक !

व्रजरञ्जन मनमोहन बालक, लीलानिधि अभिराम !

योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम।

सुर वाँच्छित वृन्दावन माली, सहृदय-हृदय बुद्धिबल शाली!

रूप अनूप भक्त प्रति पाली, यादव वंशललाम!

योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम।

सौन्दर्य सुषमा के आकर, विश्वकुञ्ज के सुन्द मधुकर।

उपदेशक स्वामी सचराचर, शासक शोभाधाम!

योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम।

कल्पद्रुम भारती मही के, विद्रुम मणि रुक्मिणि रमणी के!

हृदय-हार श्री राधा जी के, स्वामी श्यामा श्याम!

योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम।

इस नीरव अनन्त के सुखरव, दुखी हृदय की आशा केवल!

नव निश्वास विलास समुद्भव, इच्छारहित निकाम!

योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम!

—पं० उदय शंकर भट्ट

\+ \+ \+

१२

चित्तौड़

रण आङ्गन के चतुर चितेरे, हे चित्तौड़ वीर अभिराम।

सती शिरोमणि रमणी मणि के, उज्ज्वल पदरज पूत ललाम॥

मरे हुए को जीवन देते, क्षत्रिय वीरों के सिरताज।

नस नस में वीरत्व जगा दो, बिजली सी चमका दो आज॥

फूंकी तुमने रण अभिलाषा, खौला खून बढ़ा उत्साह।
मरने की धुन पैदा कर दी, देश, धर्म की प्यारी राह॥
तूने उस पिछले जीवन में, क्या चितौड़ न काम किए।
पीकर खून अखिल खिलजी का, सेना के सिर काट दिए॥
पीसे, कुचले, रगड़े अरिदल, रण के आंगन पाट दिये।
अगणित क्षत्रिय वीरवरों ने, इस रणाग्नि में प्राण दिये॥
जहां चंलला चमकी तेरी, काई सी थी फट जाती।
पल पल प्रलय मचाती जाती सफह साफ करती आती॥
खण्ड खण्ड नर मुण्ड रुण्ड गिर, रक्त नदी में थे बहते।
अरि दल बढ़ लोहा लेते, या वन में छिपते से रहते॥
तेरे पदरज पूत पूत के, लोहे से दुश्मन कंपते।
प्रलयङ्कर रण से चपते, या साधू बन माला जपते॥
तुच्छ बहादुरशाह राह, तेरी में विघ्न बना जैसे।
तूने सब कुछ दिया बुझा, उसका भी दिया वही कैसे॥
तूने आत्मज्ञान सिखलाया, पुत्रों में गुरु ज्ञान दिया।
भूमण्डल के शूरजनों ने, निज वीरों का मान किया।
है चित्तौड़ अनन्त पटल पर, लिखा गया तेरा इतिहास।
सूर्य चन्द्र जल थल में नर के, हृत्तल में होता प्रति भास॥

—पं० उदयशंकर भट्ट

\+ + +

१३

दशरथ विलाप

कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़के हमको सिधारे॥

बुढ़ापे में यह दुख देखना था ।
इसी के देखने को मैं बचा था ॥

छिपाई है कहां सुन्दर वह सूरत ।
दिखा दो सांवली सी मुझ को मूरत ॥
छिपे हो कौन से परदे में बेटा ।
निकल आओ कि अब मरता है बुड्ढा ॥

बुढ़ापे पर दया मेरे जो करते ।
तो बन की ओर क्यों तुम पैर धरते ॥
किधर वह बन है जिसमें राम प्यारा ।
अयोध्या छोड़ कर छनी सिधारा ॥

गई सङ्ग में जनक की जो लली है ।
इसी से और मुझ को बेकली है ।
कहेंगे क्या जनक यह हाल सुन कर ।
कहां सीता कहां वह बन भयंकर ॥

गया लछमन भी उनके साथ ही साथ ।
तड़पता रह गया मैं मलते ही हाथ ॥
मेरी आंखों की वह पुतली कहां है ।
बुढ़ापे की मेरी लकड़ी कहां है ॥
कहां ढूंढूं मुझे कोई बता दो ।
मेरे बच्चों को बस मुझ से मिला दो ॥
लगी है आग छाती में हमारे ।
बुझाओ कोई उन का हाल कह के ॥

मुझे सूना दिखाता है जमाना ।
कहीं भी अब नहीं मेरा ठिकाना ॥
अंधेरा हो गया घर हाय मेरा ।
हुआ क्या मेरे हाथों का खिलौना ॥
मेरा धन लूट करके कौन भागा ?
भरे घर को मेरे किस ने उजाड़ा ?
मेरा वह बोलता तोता कहां है ?
अरे वह राम सा बेटा कहां है ?
कमर टूटी न बस अब उठ सकेंगे ।
अरे बिन राम के रो रो मरेंगे ॥
कोई कुछ हाल तो आ करके कहना ।
है किस बन में मेरा प्यारा कलेजा ॥
हवा और धूप में कुम्हला के थक कर ।
कहीं साये में बैठे होंगे रघुवर ॥
जो डरती देख कर मिट्टी का चीता ।
वह बन बन फिर रही है आज सीता ॥
कभी उतरी न सेजों से ज़मीं पर ।
वह फिरती है पियादे आज दर दर ॥
न निकली जान अब तक बेहया हूं ।
भला मैं राम बिन क्यों जी रहा हूं ॥
मेरा है वज्र का लोगो कलेजा ॥
कि इस दुख पर नहीं अब भी यह फटता ।
मेरे जीने का दिन बस हाय बीता ।
कहां हैं राम लछमन और सीता ॥

कहीं मुखड़ा भी दिखला जाएं प्यारे ।
न रह जाए हवस जी में हमारे ॥
कहां हो राम मेरे राम ऐ राम ।
मेरे प्यारे मेरे बच्चे मेरे श्याम ॥
मेरे जीवन मेरे सर्वस मेरे प्राण ।
हुए क्या हाय मेरे वह दिलो जान ॥
कहां हो राम हा ! प्राणों से प्यारे ।
यह कह दशरथ जी सुरपुर को सिधारे ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

\+ \+ \+

१४

कविवर वृन्द

जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस ।
रीते सरवर पै गए, कैसे बुझत पियास ॥१॥
दीबो अवसर को भलो, जासो सुधरै काम ।
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम ॥२॥
अपनी पहुंच बिचार के, करतब करिये दौर ।
तेते पांव पसारिये, जेती लम्बी सौर ॥२॥
पिसुन-छल्यो नर सुजन सों, करत विसास न चूकि ।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छांछहि फूंकि ॥४॥

विद्या धन उद्यम बिना; कहौ जु पावै कौन ।
विना डुलाये न मिले, ज्यों पंखा की पौन ॥५॥

ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय ।
जैसे छीलर ताल जल, घटब घटत घट जाय ॥६॥

बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप ।
करवी भेषज विन पिये, मिटे न तन का ताप ॥७॥

गुरुता लघुता पुरुष की, आश्रय बस तें होय ।
करी वृन्द में विंध्य सों, दर्पन में लघु सोय ॥८॥

रहे समीप बड़ेन के, होत बड़ो हित मेल ।
सब ही जानत बढ़त है, वृक्ष बराबर बेल ॥९॥

फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै ब्योपार ।
जैसे हांडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥१०॥

करिये सुख को होत दुख, यह कहो कौन सयान ।
वा सोने को जारिये, जासों टूटे कान ॥११॥

नयना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत ।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कह देत ॥१२॥

अति परचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
मलया गिरि की भीलनी, चन्दन देत जराय ॥१३॥

निष्फल श्रोता मूढ़ पै, कविता बचन विलास ।
+ + + ॥१४॥

हितहू की कहियै न तिहि, जो नर होत अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥१५॥

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को; दीपहि देत बुझाय ॥१६॥

गेस मिटै कैसे कहत, रिस उपजावन बात ।
ईंधन डारे आग मों, कैसे आग बुझात ॥१७॥

जो जेहि भावे सो भलौ, गुन को कछु न विचार ।
तज गजमुकता भीलनी, पहिरति गुंजा हार ॥१८॥

दुष्ट न छांड़े दुष्टता कैसे हू सुख देत ।
धोये हू सौ बेर के काजर होत न सेत ॥१९॥

जो चेतन सो क्यों तजै, जाको जासो मोह ।
चुम्बक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२०॥

जो पावै अति उच्च पद, ताको पतन निदान ।
ज्यों तपि तपि मध्याह्न लौं, अस्त होत है भान ॥२१॥

जिहि प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ ॥२२॥

जाके संग दूषन दुरै, करिये तिहि पहिचानि ।
जैसे समझै दूध सब, सुरा अहीरी पानि ॥२३॥

मूरख गुन समझै नहीं, तौ न गुनी में चूक ।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जो न उलूक ॥२४॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय ।
रोपै बिरवा आक को, आम कहां ते होय ॥२५॥

बहुत निबल मिल बलकरें, करैं जु चाहैं सोय ।
तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ॥२६॥

सांच झूठ निर्णय करै, नीतिनिपुन जो होय ।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥२७॥

दोषहिं को उमहै गहै, गुन न गहै खल लोक ।
पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोक ॥२८॥

२४६

कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर ।
समय पाय तरुवर फलै, केतक सींचो नीर ॥२६॥

क्यों कीजै ऐसो जतन, जाते काज न होय ।
परवत पर खोदे कुआं, कैसे निकसै तोय ॥३०॥

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात तें, सिल पर होत निसान ॥३१॥

कुल सपूत जान्यो परै, लखि सुभ लच्छन गात ।
होनहार बिरवान के, होत चीकने पात ॥३२॥

अपनी प्रभुता को सबै, बोलत झूठ बनाय ।
वेश्या बरस घटावहीं, जोगी बरस बढ़ाय ॥३३॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको सङ्ग ।
पाथर डारै कीच में, उछरि बिगारै अङ्ग ॥३४॥

सब सौं आगे होय के, कबहुं न करिये बात ।
सुधरे काज समान फल, बिगरे गारी खात ॥३५॥

छमा खड्ग लीने रहे, खल को कहा बसाय ।
अगिन परी तृन रहित थल, आपहि ते बुझि जाय ॥३६॥

ओछे नर के पेट में, रहे न मोटी बात ।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥३७॥

जूआ खेले होतु है, सुख सम्पति को नास ।
राज काज नल ते छुट्यो, पाण्डव किए बनवास ॥३८॥

सरसुति के भण्डार की, बड़ी अपूरब बात ।
ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचै घट जात ॥३९॥

लोकन के अपवाद को, उर करिये दिन रैन ।
रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजक के बैन ॥४०॥
वह सम्पति केहि काम की, जनि काहू पै होय ।
नित्य कमावै कष्ट करि, विलसैं औरहि कोय ॥४१॥
पंडित जन को श्रम मरम, जानत जे मति धीर ।
कबहू बांझ न जानई, तन प्रसूत की पीर ॥४२॥
जो पहिले कीजै जतन, सो पीछे फलदाय ।
आग लगे खोदे कुआं, कैसे आग बुझाय ॥४३॥

\+ + +

१५

सीता का स्वयंम्बर

दोहा

शतानन्द पद बन्दि प्रभु, बैठे गुरु पहं जाय ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा जनक बुलाय ॥

चौपाई

सीय स्वयम्बर देखन जाई ।
ईश काहि धौं देहिं बड़ाई ॥
लषन कहा जस भाजन सोई ।
नाथ कृपा-तव जा पर होई ॥
हरषे सुनि सब मुनिवर बानी ।
दीन्ह असीस सबहि सुख मानी ॥

पुनि मुनिवृन्द समेत कृपाला ।
देखन चले धनुष मखशाला ॥
रङ्गभूमि आये दोउ भाई ।
अस सुधि सब पुरवासिन पाई ।
चले सकल गृह काज बिसारी ।
बालक जुवा जरठ नर नारी ॥
देखी जनक भीर भई भारी ।
शुचि सेवक सब लिए हंकारी ॥
तुरत सकल लोगन पहं जाहू ।
आसन उचित देहु सब काहू ॥

दोहा

कहि मृदु बचन बिनीत तिन, बैठारे नर नारि ॥
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ॥

चौपाई

राजकुंवर तेहि अवसर आये ।
मनहुं मनोहरता छवि छाये ॥
गुणसागर नागर वरबीरा ।
सुन्दर श्यामल गौर शरीरा ॥
राज समाज विराजत रूरे ।
उडुगण महं जनु जुग विधु पूरे ॥
जिनके रही भावना जैसी ।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

देखहिं भूप महारणधीरा ।
मनहुं वीर रस धरे शरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी ।
मनहुं भयानक मूरति भारी ॥
रहे असुर छल जो नृप भेखा ।
तिन प्रभु प्रगट काल सम देखा ।
पुरवासिन देखे दोउ भाई ।
नर भूषण लोचन-सुख-दाई ॥

दोहा

नारि विलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥

चौपाई

देखि लोक सब भये सुखारे ।
इक टक लोचन टरहिं न टारे ॥
हरषे जनक देख दोउ भाई ।
मुनि पद-कमल गहे तब जाई ॥
करि बिनती निज कथा सुनाई ।
रङ्ग अवनि सब मुनिहिं दिखाई ॥
जहं जहं जाहिं कुंवर वर दोऊ ।
तहं तहं चकित चितव सब कोऊ ॥
निज निज रुचि रामहिं सब देखा ।
कोउ न जान कछु मर्म विशेषा ॥

भलि रचना नृप सन मुनि कहेऊ ।
राजा मुदित महा सुख लहेऊ ॥

दोहा

सब मंचन तें मंच इक, सुन्दर विशद विशाल ।
मुनि समेत दोउ बन्धु तहं बैठारे महिपाल ।

चौपाई

प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे ।
जनु राकेश उदय भये तारे ॥
अस प्रतीत सब के मन माहीं ।
राम चाप तोरब सक नाहीं ॥
बिनु भंजेहु भवधनुष विशाला ।
मेलहिं सीय राम उर माला ॥
अस विचारि गवनहु घर भाई ।
जस प्रताप सब तेज गंवाई ॥
विहंसे अपर भूप सुनि बानी ।
जे अविवेक अन्ध अभिमानी ॥
तोरेहुं धनुष ब्याह अवगाहा ।
बिनु तोरे को कुंवरि बिवाहा ॥
एक बार कालहु किन होई ।
सिय हित समर जितब हम सोई ॥
यह सुनि अपर भूप मुसुकाने ।
धर्मशील हरि भक्त सयाने ॥

दोहा

जानि सुअवसर सीय तब, पठवा जनक बुलाइ ।
चतुर सखी सुन्दरि सकल, सादर चलीं लिवाइ ॥

चौपाई

चली संग ले सखी सयानी ।
गावत गीत मनोहर बानी ॥
सोह नवल तनु सुन्दर सारी ।
जगतजननि अतुलित छवि भारी ॥
भूषण सकल सुदेश सुहाये ।
अंग संग रचि सखिन बनाये ॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी ।
रूप देखि मोहे नर नारी ॥
हरषि सुरन दुन्दुभी बजाई ।
बरषि प्रसून अपसरा गाई ॥
पाणि सरोज सोह जयमाला ।
औचक चितै सकल महिपाला ॥
सीय चकित चित रामहिं चाहा ।
भये मोह बस सब नरनाहा ॥
मुनि समीप बैठे दोउ भाई ।
लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥

दोहा

गुरु जन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि ।
लागि विलोकनि सखिन तन, रघुवीरहिं उर आनि ॥

चौपाई

सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं ।
विधि सन विनय करहिं मन माहीं ॥
हरु विधि वेगि जनक जड़ताई ।
मति हमारि अस देहु सुहाई ॥
बिनु बिचारि प्रण तजि नर नाहू ।
सीय राम कर करैं विवाहू ॥
जग भल कहहि भाव सब काहू ।
हठ कीन्हें अन्तहु उर दाहू ॥
यह लालसा मगन सब लोगू ।
बर सांवरो जानकी जोगू ॥
तब बन्दीजन जनक बुलाये ।
बिरुदावली कहत चलि आये ॥
कह नृप जाइ कहहु प्रण मोरा ।
चले भाट हिय हरष न थोरा ॥

दोहा

बोले बन्दी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल ।
प्रण विदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाय विशाल ॥

चौपाई

नृप-भुज-बल विधु शिव-धनु राहू ।
गरुअ कठोर विदित सब काहू ॥
रावण बाण महा भट भारे ।
देखि शरासन गवहिं सिधारे ॥

सोइ पुरारि को दण्ड कठोरा ।
राज समाज आजु जेहि तोरा ॥
त्रिभुवन जय समेत वैदेही ।
बिनहि बिचार बरै हठ तेही ॥
सुनि प्रण सकल भूप अभिलाषे ।
भट मानी अतिशय मन माषे ॥
परिकर बांधि उठे अकुलाई ।
चले इष्टदेवन सिर नाई ॥
तमकि ताकि तकि शिव धनु धरहीं ।
उठहि न कोटि भांति बल करहीं ॥
जिन के कछु विचार मन माहीं ।
चाप समीप महीप न जाहीं ॥

दोहा

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिं लजाइ ।
मनहु पाइ भट बाहुबल, अधिक अधिक गरुआइ ॥

चौपाई

भूप सहस दस एकहिं वारा ।
लगे उठावन टरहिं न टारा ॥
डिगै न शम्भु शरासन कैसे ।
कामी वचन सती मन जैसे ॥
सब नृप भये जोग उपहासी ।
जैसे बिनु बिराग संन्यासी ॥

कीरति विजय वीरता भारी ।
चले चाप कर सरबस हारी ॥
श्रीहत भये हारि हिय राजा ।
बैठै निज निज जाइ समाजा ॥
नृपन बिलोकि जनक अकुलाने ।
बोले बचन रोष जनु साने ॥
द्वीप द्वीप के भूपति नाना ।
आए सुनि जो प्रण हम ठाना ॥
देव दनुज धरि मनुज शरीरा ।
विपुल वीर आये रणधीरा ॥

दोहा

कुंवरि मनोहर विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय ।
पावन हार विरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय ॥

चौपाई

कहहु काहि यह लाभ न भावा ।
काहु न शंकर चाप चढ़ावा ॥
रहा चढ़ाउब तोरब भाई ।
तिल भरि भूमि न सकै छुड़ाई ॥
अब जनि कोउ भाषे भट मानी ।
वीर विहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू ।
लिखा न विधि वैदेहि विवाहू ॥

सुकृत जाइ जो प्रण परिहरहूं ।
कुंवरि कुंवारि रहै का करहूं ।।
जो जनतेउं बिनु भट महि भाई ।
तो प्रण करि होत्यो न हंसाई ।।
जनक बचन सुनि सब नर नारी ।
देखि जानकी भये दुखारी ।।
माखे लषन कुटिल भई भौंहैं ।
रद पुट फरकत नयन रिसौहैं ।।

दोहा

कहि न सकत रघुवीर डर, लगे बचन जनु बाण ।
नाइ राम-पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमाण ।।

चौपाई

रघुवंशिन महं जहं कोउ होई ।
तेहिं समाज अस कहहिं न कोई ।।
कही जनक जस अनुचित बानी ।
विद्यमान रघुकुल मणि जानी ।।
सुनहु भानु-कुल-पंकज-भानू ।
कहौं स्वभाव न कछु अभिमानू ।।
जो राउर अनुशासन पाऊं ।
कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊं ।।
काचे घट जिमि डारौं फोरी ।
सकौं मेरु मूलक इव तोरी ।।

तव प्रताप महिमा भगवाना ।
का बापुरो पिनाक पुराना ॥
नाथ जानि अस आयसु होऊं ।
कौतुक करौं बिलोकिय सोऊं ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ाऊं ।
शत जोजन प्रमाण लै धाऊं ॥

दोहा

तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ ।
जो न करौं प्रभुपद शपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ ॥

चौपाई

लषन सकोप बचन जब बोले ।
डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सकल लोक सब भूप डराने ।
सिय हिय हरष जनक सकुचाने ॥
गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं ।
मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ॥
विश्वामित्र समय शुभ जानी ।
बोले अति सनेह मृदु बानी ॥
उठहु राम भंजहु शिवचापू ।
मेटहु तात जनक परितापू ॥
सुनि गुरुबचन चरण सिर नावा ।
हरष विषाद न कछु उर आवा ॥

ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये।
ठवनि युवा मृगराज लजाये॥

दोहा

उदित उदय-गिरि-मञ्च पर, रघुवर बालपतंग।
विकसे सन्त-सरोज-वन, हरषे लोचन भृङ्ग॥

चौपाई

नृपन केरि आसा निसि नासी।
वचन नछत अवलीन प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने।
कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भये विशोक कोक मुनि देवा।
बरसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥
गुरुपद वन्दि सहित अनुरागा।
राम मुनिन्ह सन आयसु मांगा॥
सहजहि चले सकल जग स्वामी।
मत्त मञ्जु कुञ्जर वर गामी॥
चलत राम सब पुर नर नारी।
पुलक पूरि तनु भये सुखारी॥
वन्दि पितर सुर सुकृत संभारे।
जो कछु पुण्य प्रभाव हमारे॥
तौ शिवधनु मृणाल की नाईं।
तोरहिं राम गणेश गुसाईं॥

दोहा

रामहि प्रेम समेत लखि, सखिन समीप बुलाइ ।
सीता मातु सनेह बस, बचन कहै बिलखाइ ॥

चौपाई

सखि सब कौतुक देखन हारे ।
जेउ कहावत हितू हमारे ॥
कोउ न बुझाय कहै नृप पाहीं ।
ये बालक अस हठ भल नाहीं ॥
रावण बाण छुआ नहीं चापा ।
हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राज कुंवर कर देही ।
बाल मराल कि मन्दर लेही ॥
भूप सयानप सकल सिरानी ।
सखि विधिगति कछु जाइ न जानी ॥
बोली चतुर सखी मृदु बानी ।
तेजवन्त लघु गनिय न रानी ॥
कहं कुम्भज कहं सिन्धु अपारा ।
सोषेउ सुजस सकल संसारा ॥
रवि मण्डल देखत लघु लागा ।
उदय तास त्रिभुवन तम भागा ॥

दोहा

मंत्र परम लघु जासु वस, विधि हरि हर सुर सर्व ।
महा मत्त गजराज कहं, बस कर अंकुस खर्व ॥

चौपाई

देखि तजिय संसय अस जानी।
भंजब धनुष राम सुनु रानी ॥
सखी बचन सुनि भई प्रतीती।
मिटा विषाद बढ़ी अति प्रीती ॥
तब रामहिं बिलोक वैदेही ।
सभय हृदय विनवति जेहिं तेही।
मन ही मन मनाय अकुलानी ।
होहु प्रसन्न महेश भवानी ।
करहु सफल अपनी सेवकाई।
करि हित हरहु चाप गरुआई ॥
गणनायक वरदायक देवा ।
आजु लगे कीन्ही तव सेवा ॥
बार बार बिनती सुन मोरी।
करहु चाप गरुता अति थोरी ॥

दोहा

देखि देखि रघुबीर तनु, सुर मानव धरि धीर।
भरे विलोचन प्रेम जल, पुलकावली शरीर ॥

चौपाई

नीके निरखि नयन भरि शोभा।
पितु प्रण सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥

अहह तात दारुण हठ ठानी।
समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥
सचिव सभय सिख देहिं न कोई।
बुध-समाज बड़ अनुचित होई॥
कहं धनु कुलिशहु चाहि कठोरा।
कहं श्यामल मृदु गात किशोरा॥
विधि केहि भांति धरौं उर धीरा।
सिरस सुमन किमि बेधहिं हीरा॥
सकल सभा की मति भइ भोरी।
अब मोहि शम्भुचाप गति तोरी॥
निज जड़ता लोगन पर डारी।
होहु हरुअ रघुपतिहिं निहारी॥
अति परिताप सीय मन माहीं।
लवनिमेष युग सम चलि जाहीं॥

दोहा

प्रभुहि चितै पुनि चितय महि, राजत लोचन डोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधुमण्डल डोल॥

चौपाई

गिरा अलिन मुख पंकज रोकी।
प्रकट न लाज निशा अवलोकी॥
लोचन-जल रह लोचन कोना।
जैसे परम कृपण कर सोना॥

सकुची व्याकुलता बड़ि जानी ।
धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥
तन मन वचन मोर प्रण सांचा ।
रघुपति पद-सरोज मन रांचा ॥
तौं भगवान सकल उर वासी ।
करिहहि मुहि रघुपति की दासी ॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू ॥
प्रभुतन चितै प्रेम प्रण ठाना ।
कृपानिधान राम सब जाना ॥
सियहिं विलोकि तकेउ धनु कैसे ।
चितव गरुड़ लघु व्यालहिं जैसे ॥

दोहा

राम विलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि ।
चितई सीय कृपायतन, जानी विलक विशेष ॥

चौपाई

देखी विपुल विकल वैदेही ।
निमिष विहात कल्प सम तेही ॥
तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा ।
मुए करै का सुधा तड़ागा ॥
का वर्षा जब कृषी सुखाने ।
समय चूकि पुनि का पछताने ॥

अस जिय जानि जानकी देखी ।
प्रभु पुलके लखि प्रीति विशेषी ॥
गुरुहिं प्रणाम मनहिं मन कीन्हा ।
अति लाघव-उठाइ धनु लीन्हा ॥
दमकेउ दामिनि जिमि घन लयऊ ।
पुनि धनु नभमण्डल सम भयऊ ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े ।
काहु न लखा रहे सब ठाढ़े ॥
तेहिं छिन मध्य राम धनु तोरा ।
भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥

छन्द

भर भुवन घोर कठोर रव रविवाजि तजि मारग चले ।
चिकरहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं ।
कोदण्ड भंजेउ राम "तुलसी" जयति बचन उचारहीं ॥

—महात्मा तुलसीदास
रामचरित मानस, बालकाण्ड

× × +

१६

एक प्राकृतिक दृश्य और पथिक

कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण सा उज्ज्वल सर है ।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है ॥
कहीं गगन के खम्भ नारियल, तार भार सिर धारे ।
रस रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ॥

घेर रही है जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाड़ी।
छाया, शयित सघन आच्छादित कुंचित पन्थ पहाड़ी ॥
सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल-ऊंचाई।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ॥
ऊंचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है।
यहां परम सुख-शान्ति-समन्वित नित आनन्द-अटल है ॥

कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को।
पा सकते हैं शान्ति मिटा सकते हैं जी के ज्वर को।
विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र विचित्र कुसुम हैं ॥

खड़े चतुर्दिक् शान्ति भाव से लतिकालिङ्गित द्रुम हैं।
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते।
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते ॥
नालों का संयोग, सांझ का समय, घना जंगल है।
ऊंचे नीचे खोह कगारे निर्जन बीहड़ थल है ॥

रह रह कर सौरभ समीर में हैं वन पुष्प उड़ाते।
ताप-तप्त जन क्यों न जहां क्षण आकर एक जुड़ाते ॥
सन्ध्या समय चतुर्दिक् से बहु हर्ष-निनाद सुनाने।
विविध रूप रंगों के पक्षी झुंड झुंड मिल आते ॥
बैठ पल्लवों पर सब मिल कर गान मनोहर गाते।
अद्भुत वाद्य-यन्त्र पादप को हैं प्रतिदिवस बनाते।
चारों ओर तुषार-धवल-पर्वत चुपचाप खड़ा है।
प्रकृति-मुकुर सा एक सरोवर उसके मध्य खड़ा है ॥
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ यहां यदि जाते।
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन, प्राण जुड़ाते ॥

जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम ॥
फूट हि सों नव नन्दहु विनसे गयो मगध को राज ।
चन्द्रगुप्त को नासन चह्यो आपु नसे सहसाज ॥
जो जग में धन मान और बल आपुनो राखन होय ॥
तो अपने घर में भूलेहू फूट करौ मति कोय ॥
करि मूरख सों मित्र मिताई, फिर पछितैहो रे भाई ।
अन्त दगा खैहो धुनिहो सिर रहिहौ सबै गंवाई ॥
मूरख जो कछु हितहु करै तो तामैं अन्त बुराई ।
उलटो उलटो काज करत सब देहै अन्त नसाई ॥
लाख करौ हित मूरख सों पै ताहि न कछु समझाई ।
अन्त बुराई सिर पै ऐहै रहि जैहौ मुंह बाई ॥

—भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ।

× × ×

१६

प्रार्थना

द्विज वेद पढ़ैं सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को ।
अविरुद्ध रहैं ऋजुपन्थ गहैं परिवार कहैं वसुधा भर को ॥
ध्रुव धर्म धरैं पर दुःख हरैं, तन त्याग तरैं भवसागर को ।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, करदे कविता कवि 'शङ्कर' को ॥
महिमा उमड़े लघुता न लड़े जड़ता जकड़े न चराचर को ।
शठता सटके मुदिता मटके प्रतिभा भटके न समादर को ॥
विकसे विमला शुभ कर्म कला पकड़े कमला श्रम के कर को ।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, करदे कविता कवि 'शङ्कर' को ॥

मत जाल जलें छलिया न छलें कुल फूल फलें तज मत्सर को।
अघ दम्भ दवें न प्रपञ्च फवें गुनवान नवें न निरच्छर को ॥
सुमरें जप से निरखें तप से सुरपादप से तुझ अच्छर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शङ्कर' को ॥
अब लों न चले उस पद्धति पै जिस पै व्रतशील विनीत गये।
वह अचानक सूझ पड़ी सुघड़ी भ्रम के दिन बाधक बीत गये ॥
प्रभु 'शङ्कर' की सुधि साथ लगी मुख मोड़ हठी विपरीत गये।
चलते चलते हम हार गये पर पाय मनोरथ जीत गये ॥

—श्रीनाथूराम शङ्कर शर्मा।

× × ×

२०

मन बन्दर

तुझे पहिचान लियो मैं वन्दर;
कूदा फिरता है त्रिभुवन में, बंधा भवन के अन्दर।
तू बाज़ीगर जादूगर है, बहुरूपिया कलन्दर,
छोटा कभी कभी तू भारी, मच्छर कभी मछन्दर।
कभी सवार कभी तू पैदल, दारा कभी सिकन्दर,
कभी महन्त सन्त गुरु चेला, कभी कुबेर पुरन्दर।
कभी कुदै राई से दब कर, कभी ढहावै मन्दिर,
जल में कभी आग में बिचरै, मगरा कभी समुन्दर।
अरे अनारी तू मछली है, यह सब अगम समुन्दर,
उछल-कूद निष्फल बिचार निज, 'पूरन' त्याग न कन्दर।

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'।

× × ×

२१

वर्षा का आगमन

सुखद शीतल शुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगो वसुधा लगी सुखमा लहन ॥
लहलही लहरान लागीं सुमन-बेलीं मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन वृक्ष मंजुल विपुल ॥१॥
हरित मणि के रङ्ग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्र-वधून-अवली-छटा मानिक बरन ॥
विमल बगुलन पांति मनहुं विशाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकित चञ्चला त्यों भली ॥२॥

नील, नीरद-सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम
लसत मनुं वनमाल धारे ललित श्री घनश्याम ॥
कूप, कुण्ड गम्भीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन ॥३॥

रटन दादुर विविध लागे, रुचन चातक बचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन ॥
मेघ गर्जन मनहुं पावस भूप को दल सकल।
विजय-दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल ॥४॥

—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण'।

× × ×

२२

कबीर के दोहे

शील

सील छिमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुंचे नहीं, लाख कथै जो कोय ॥१॥
सीलवंत सब से बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि ॥२॥
ज्ञानी ध्यानी संजमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवन्त कोई एक ॥३॥
सुख का सागर सील है कहै न पावै थाह।
शब्द बिना साधू नहीं द्रव्य बिना नहि साह ॥४॥
घायल ऊपर घाव लै टोटे त्यागी सोय।
भर जोवन में सीलवन्त, बिरला होय तो होय ॥५॥

क्षमा

छिमा बड़न को चाहिए छोटन को उतपात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥१॥
जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहं पाप।
जहां क्रोध तहं काल है, जहां छिमा तहं आप ॥२॥
करगस सम दुर्जन बचन, रहे संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में कहा सकैगी जारि ॥३॥
खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराय।
कुटिल बचन साधू सहै और से सहा न जाय ॥४॥

उदारता

कबीरा गुरु के मिलन की, बात सुनी हम दोय ।
कै साहब को नाम लै, कै कर ऊंचा होय ॥१॥
ऋतु बसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात ।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥२॥
जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिये, यहि सज्जन को काम ॥३॥
हाथ बड़ा हरि भजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देह ।
अकल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह ॥४॥
देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देहु ।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देहु सो देहु ॥५॥
सत ही में सत बांटई, रोटी में ते टूक ।
कह कबीर ता दास को, कबहुं न आवै चूक ॥६॥

सन्तोष

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिए सोई साहनसाह ॥१॥
मांगन गये सो मरि रहे, मरे सो मांगन जाहि ।
तिनसे पहिले वे मरे, होत करत जो नाहिं ॥२॥
गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खान ।
जब आवे, संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥३॥
मरि जाऊं मांगूं नहीं, अपने तन के काज ।
परमारथ के कारने, मोहि न आवै लाज ॥४॥

धैर्य

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय ।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥१॥
कबिरा धीरज के धरै, हाथी मन भर खाय ।
टूक एक के कारने, श्वान घरै घर जाय ॥२॥
कबिरा भंवर में पैठि कै, मौचक बना न कोय ।
डूबन का भय छांड़िये, करता करे सो होय ॥३॥
मैं मेरी जब जायेगी, तब आवेगी और ।
जब यह निश्चय होयगा, तब पावेगा ठौर ॥४॥

कबीर साहब ।

\+ × ×

२३

सुदामा

कहि न सकति सकुचित इक बात ।
कितिक दूर द्वारका नगरी, काहे न द्विज जदुपति लौं जात ॥
जाके सखा श्यामसुन्दर से, श्रीपति सकल सुखन के दात ।
उनके अछत आपने आलस, काहे कन्त, रहत कृश गात ॥
कहियत परम उदार कृपानिधि, अन्तर्जामी त्रिभुवन तात ।
द्रवियत आपु देत दासन को, रीझत है तुलसी के पात ॥
छांड़ौ सकुच बांधि पट तंदुल सूरज सङ्ग चलौ उठि प्रात ।
लोचन सफल करहु प्रभु अपने, हरिमुख कमल देखि बिलसात ॥

(२)

दूरहिं ते देखे बलवीर ।
अपने बाल सुसखा सुदामा, मलिन बसन अरु छीन सरीर ॥
पौढ़े हुते पलङ्ग परम, रुचि, रुक्मिनि चमर डुलावत तीर ।
उठि अकुलाइ अगमने लीने, मिलत नयन भरि आये नीर ॥
तेहि आसन बैठारि स्याम घन, पूछी कुसल करौ मन धीर ।
ल्याये हौ सु देहु किन हमको, अब कहा राखि दुरावत चीर ॥
सूर सुमति तन्दुल चबात ही, कर पकर्‌यो कमला भई भीर ॥

(३)

ऐसी प्रीति की बलि जाउं ।
सिंहासन तजि चले मिलन को, सुनत सुदामा नाउं ॥
गुरु बांधव अरु विप्र जानि कै, हाथनि चरन पखारे ।
अंक माल दै कुशल बूझि कै, अर्धासन बैठारे ॥
अर्धाङ्गी बूझति मोहन सों कैसे हितू तुम्हारे ।
दुर्बल दीन छीन देखति हौं, पाउं कहां ते धारे ॥
संदीपन के हम औ सुदामा, पढ़े एक चटसार ।
सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार ॥

(४)

वह सुधि आवत मोहि सुदामा ।
जब मह तुम बन गये लकरियन, पठये गुरु की भामा ॥
चपल समीर भयो तेहि रजनी, भीजै चारौ जामा ।
कांपत हृदय बचन नहिं आवै, आये सत्वर धामा ॥
तबहिं असीस दई परसन ह्वै, सफल होहु तुम कामा ।
सूरदास प्रभु को जु मिलन जस, गावत सुर नर नामा ॥

(५)

सुदामा मन्दिर देखि डर्‌यो ।
सीस धुनै दोऊ कर मीड़ै, अन्तर सांच पर्‌यो ॥
ठाढ़ी त्रिया मारग जो जोवै ऊंचे चरन धर्‌यो ।
तोहिं आदर्‌यो त्रिभुवन के नायक, अब क्यों जात फिर्‌यो ॥
सूरदास प्रभु करि यह लीला, आपद विप्र हर्‌यो ।

(६)

कहो कैसे स्याम संघाती ।
कैसे गये सु कन्त कौन विधि, परसे वस्त्र कुचील कुजाती ॥
सुनि सुन्दर प्रतिहार जनायो, हरि समीप रुक्मिणी जहां ती ।
उभै मुठि लीनों तन्दुल की, संपति संचित करी ही थाती ॥
सूर सुदीनबन्धु करुनामय, करत बहुत जो श्री न रिसाती ।

(७)

ऐसे मोहिं और कौन पहिचानै ।

सुन सुन्दरी, दीनबन्धु बिन, कौन मिताई मानै ॥
कहं हम कृपन कुचील कुदरसन, कहं वै जादवनाथ गुसाई ।
भेंटे हृदय लगाइ अङ्क भरि, उठि अग्रज की नाई ॥
निज आसन बैठारि परम रुचि, निज कर चरन पखारे ।
पूछी कुसल स्यामघन सुन्दर, सब सङ्कोच निवारे ।
लीन्हे छोरि चीर तें चाउर, कर गहि मुख में मेले ।
पूरब कथा सुनाई सूर प्रभु, गुरु-गृह बसे अकेले ।

(८)

गोपाल बिना और मोहिं ऐसा कौन संभारै ।
हंसत हंसत हरि दौरि मिलै सुन, उर ते उर नहिं टारै ॥

छीन अङ्ग जीरन वस्त्र, दीन मुख निहारै ।
मम तन पथ-रज लागी, पीत पट सौं झारै ॥
सुखद सेज आसन दीन्हों, सु हाथ पाय पखारै ।
हरि हित हरगङ्ग धरे, पद जल सिर ढारै ॥
कहि गुरु गेह कथा, सकल दुख निवारै ।
न्याय निरख सूरदास, हरि पर सब वारै ॥

सूरदास ।

× × ×

२४

चुगुल भेड़िया

[१]

एक बार गड़ गया सिंह के पंजे में कांटा भारी ।
जिससे वह बीमार पड़ गया हुई शिथिल काया सारी ॥
देख सिंह को दुखी, सुखी थे मन में यद्यपि जीव सभी ।
तो भी दिखलाने को जाते उसे देखने कभी कभी ॥
सिवा लोमड़ी के उससे मिलने को सारे जाते थे ।
मुंह देखी बातें कर कर के उसका जी बहलाते थे ॥
उनमें एक भेड़िया भी था चुगुल और चालाक ।
सदा खैरखाही दिखलाता, बोला मौका ताक ॥

[२]

"महाराज के दर्शन लेने सारी प्रजा यहां आती ।
पर घमण्ड में भरी लोमड़ी कभी नहीं मुंह दिखलाती ॥
सुन कर क्रोधित हुआ सिंह यों बोला, 'देखा जावेगा ।
जो जैसा आचरण करेगा वह वैसा फल पवेगा ॥"

सुना भेड़िये ने जब ऐसा मन में हुआ प्रसन्न बड़ा।
चुगुली खाने लगा और भी हाथ जोड़ कर खड़ा खड़ा ॥
वहीं लोमड़ी के साथी ने सुन पाई यह बात।
उसी समय जाकर कह दी उसने की थी जो बात ॥

[३]

चतुर लोमड़ी यह सुनते ही शीघ्र सिंह सन्मुख आकर।
बड़ी नम्रता से प्रणाम कर बोली कुछ समीप जाकर ॥
"महाराज जब से दासी ने बीमारी की बात सुनी।
जहां कहीं सुन पाया मैंने कोई वैद हकीम गुनी ॥
वहीं गई मैं दौड़ी दौड़ी दवा पूछने को स्वामी।
आखिर मिला आज मुझको इक बूढ़ा वैद्य बड़ा नामी ॥
उस ने मुझ को एक दवा बतलाई है अकसीर।
जिसे लगाते ही हजूर की भाग जाय सब पीर ॥

[४]

पर उसके कहने में मेरी जीभ रुकी सी जाती है।
क्योंकि उसे लाने में स्वामिन्, जान मित्र की जाती है" ॥
यह सुन जो दरबारी थे वे स्वामि-भक्ति दिखलाने को।
कहने लगे लोमड़ी से आग्रह कर, दवा बताने को ॥
"अजी लोमड़ी जी, हकीम जी ने जो दवा बताई हो।
शीघ्र कहो हम तो लावेंगे चाहे जो कठिनाई हो ॥
जान एक की क्या, दस की भी जावे तो क्या सोच।
स्वामी के हित प्राणदान में हमें नहीं संकोच ॥

[५]

देख समय अनुकूल लोमड़ी यों बोली चतुराई से।
"पांव आपका अच्छा होगा केवल एक दवाई से ॥

लेप भेड़िये के गुरदे का उसने मुझे बताया है ।
जिसके कहने में मेरा जी अब लों यों सकुचाया है" ॥
इतना सुनते ही दो चीते ड्योढ़ी पर जो रहे खड़े !
देख भेड़िया पास उसी का गुर्दा लेने टूट पड़े ॥
पलक मारते में कर डाला उसका काम तमाम ।
सत्य कहा है—"जैसे को तैसा फल देते राम ॥"

—पं० सुदर्शनाचार्य्य ।

× × ×

२५

शरद्-ऋतु

चौपाई

वर्षा विगत शरद-ऋतु आई ।
लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूले कांस सकल महि छाई ।
जनु वर्षा-कृत प्रगट बुढ़ाई ॥
उदित अगस्त्य पंथ जल सोखा ।
जिमि लोभहि सोखै सन्तोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा ।
सन्त हृदय जस गत मद मोहा ।
रस रस सूख सरित सर पानी ।
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी ॥
जानि शरद-ऋतु खंजन आये ।
पाय समय जिमि सुकृत सुहाये ॥

पंक न रेणु सोह अस धरनी ।
नीति-निपुण नृप को जस करनी ॥
जल संकोच विकल भये मीना ।
विविध कुटुम्बी जिमि धन-हीना ॥
विन घन निर्मल सोह अकाशा ।
जिमि हरिजन परिहरि सब आशा ॥
कहुं कहुं वृष्टि शारदी थोरी ।
कोउ एक पाव भक्ति जिमि मोरी ॥

दोहा

चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरि भक्तिहि पाइ जन, तजहिं आश्रमी चारि ॥१६॥

चौपाई

सुखी मीन जहं नीर अगाधा ।
जिमि हरि चरन न एकौ बाधा ॥
फूले कमल सोह सर कैसे ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसे ।
गुंजत मधुकर निकर अनूपा ।
सुन्दर खगरव नाना रूपा ॥
चक्रवाक मन दुख निशि पेखी ।
जिमि दुर्जन पर-सम्पति देखी ॥
चातक रटत तृषा अति ओही ।
जिमि सुख लहै न शंकर-द्रोही ॥
शरद ताप निशि शशि अपहरई ।
सन्त-दरस जिमि पातक टरई ॥

देखहिं विधु चकोर समुदाई ।
चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥
मशक दंस बीते हिम त्रासा ।
जिमि द्विज द्रोह किए कुलनासा ॥

दोहा

भूमि जीव संकुल रहे गए शरद-ऋतु पाय ।
सतगुर मिले ते जाहि जिमि, संशय भ्रम समुदाय ॥२०॥

[तुलसीरामायण, किष्किन्धा काण्ड]

× × ×

२६

बुरे संग का फल

किसी समय की बात सुनो, इक काग वृक्ष पर रहता था ।
उसी वृक्ष के अधोभाग में, एक बतक भी बसता था ॥
बहुत दिनों तक सघन मित्रता, उन दोनों में बनी रही ।
यद्यपि काग बतक थे दोनों, भिन्न प्रकृति के जीव सही ॥
काग बड़ा ही दुष्टाचारी, जाने उसको सकल जहान ।
बतक विचारा सीधा साधा, यह सच्चा, वह छली महान ॥
पक्षी गण में श्रेष्ठ गरुड़, खगराज जिसे सब कहते हैं ।
शुक पिक मोर चकोर आदि, आधीन उसी के रहते हैं ॥
गरुड़ देव ने कार्य विवश हो, प्रभु के ढिग प्रस्थान किया ।
वन की विहग मण्डली ने भी, चलने का अनुमान किया ॥
वायस भी वह मित्र बतक का, जाने को तैयार हुआ ।
देख तैयारी बतक के भी, जी में यही विचार हुआ ॥

सुहृद् हमारा परम चतुर, जो साथ हमारे रहता है।
क्या अच्छी क्या बुरी दशा, गरमी सरदी सब सहता है ॥
आज बिना उसके हम कैसे, कहीं और प्रस्थान करें।
जो कुछ भाग लिखा सो हो पर, संग जियें और संग मरें ॥
उसने यह नहीं सोचा जी में, दुष्टों का सहवास बुरा।
चला मग्न हो प्रेमामृत में, सब ही सुध बुध को बिसरा ॥
जाते हुए मार्ग में देखा, एक गोप को दही लिये।
खुली हुई मटकी सिर पर रख, जाता था निश्चिन्त हिये।
उसे देख कर काग लालची, कूट कूट हिय कपट भरा।
चट पट स्वाद दही का लेने को वह ऊंचे से उतरा ॥
बारम्बार दही को खाकर, कपटी उदर लगा भरने।
ग्वाला भी कुछ आहट पाकर, कुछ अनुमान लगा करने ॥
क्या खरखर सा मेरे सिर के, ऊपर यह पड़ता है जान।
नीचे रखकर मटकी को टुक, करूं परीक्षा इस ही आन ॥
इतना सुनते धूर्त काग चट चम्पत हो आकाश उड़ा।
बतक विचारा मन्द चाल का, उस ग्वाले को देख पड़ा ॥
कोपानल से जले गोप के, धनु से निकल पड़ा इक तीर।
वह निर्दोषी बतक तुरत, धरणी तल पर गिर पड़ा अधीर ॥
दुर्जन की संगति से वह, बेचारा छल का लक्ष्य हुआ।
दोषी समझा जा कर वहीं, अकारण पाकर दण्ड मुआ ॥
दुर्जन खावे दही और सज्जन खावे सीने पै तीर।
बुरों की संगति का यह फल है, गांठ बांध ले हो जो धीर ॥

—पं० अमरनाथ पाण्डेय।

× × ×

२७

दुर्जन और सज्जन

[१]

दुर्जन जो विद्या पढ़ता है,
तो विवाद सब से करता।
दुर्जन जो धनवान बनै,
तो अहङ्कार ही में मरता॥
दुर्जन के तन में बल हो,
तो निरपराध को पीड़ा दे।
विद्या धन बल पाकर भी,
नहीं धन्यवाद औरों से ले।

[२]

सज्जन किन्तु सदा विद्या से,
सब मनुजों को देता ज्ञान।
सज्जन जो धनवान होय तो,
दीन जनों को करता दान।
सज्जन के शरीर में जो हो,
अन्य जनों से भारी बल।
तो उससे वह दीन जनों की,
सदा करे रक्षा केवल।

—पं० राधाकृष्ण मिश्र।

\+ + +

२८

बड़ा आदमी कौन है ?

अपने को जो कहे बड़ा वह बड़ा न जग में कहलाता ।
और लोग कहते हैं जिसको बड़ा वही समझा जाता ॥
बड़ा नहीं होता कोई भी धन दौलत के पाने से ।
नहीं बड़ा बनता है नर कुछ ऊंचे महल चिनाने से ॥

[२]

सच पूछो तो बड़ा आदमी होना सब से टेढ़ा काम ।
बड़े गुणों के बिना न होता कभी बड़े लोगों में नाम ॥
जो तुम होना बड़े चाहते, तो उसका है एक उपाय ।
दुर्बल, दीन, अनाथ जनों की तन मन धन से करो सहाय ॥

[३]

भले बुरे का ज्ञान न जिसको अहंकार में रहता चूर ।
अपनी आप बड़ाई करता, क्रोध लोभ जिसमें भर पूर ॥
ऐसा मनुज धनी भी हो, तो बड़ा न वह कहलावेगा ।
समझदार लोगों के आगे छोटा समझा जावेगा ॥

[४]

सद्‌गुण से जो बड़े बने हैं, बड़े वही कहलाते हैं ।
बुद्धिमान् विद्वान् जनों में सारे आदर पाते हैं ॥
प्रिय बालक ! जो बनना चाहो बड़ा सभी तज कर अन्याय ।
सब से छोटे बनो यही है, सब से सुन्दर सीधी राय ॥

—पं० राधाकृष्ण मिश्र ।

× × ×

२९

बर्र और मधुमक्षिका

एक दिवस की बात बर्र इक भिन भिन भिन भिन करती थी।
भेंट हुई मधुमक्खी से जो निकट उसी के रहती थी॥
कहा बर्र ने प्यारी बहिन चचेरी मुझ को बतलाओ।
क्यों चाहें सब दिल से तुमको मुझको भी कुछ जतलाओ॥
हम तुम दोनों एक जाति हैं एक ही पेशा करते हैं।
शहद पसन्द कर हम दोनों सब को काटा करते हैं॥
हां! पर भूल गयी प्यारी मैं तुझसे भी बढ़ चढ़ कर हूं।
तू काली कुरूप मक्खी है मैं सुवर्ण के पटतर हूं॥
सुन्दर कोमल अङ्ग मेरा है पंख हैं मेरे चमकीले।
कञ्चनवदनी हो जैसे कोई कपड़े पहने भड़कीले॥
यद्यपि मुझ में सब गुण हैं, तो भी घिना हैं करते सब।
क्या कारण है इसका प्यारी! बतला सकती हो क्या अब॥

[२]

मधुमक्खी ने कहा अहा! यह सब तो तुमने सत्य कहा।
पर जो अन्तर हम तुम में है, बिना कहे नहीं जाय रहा।
सुन्दरता का घमण्ड तुमको बेशक सुन्दर भी हो तुम।
एक बात जो सही न जाती वह भी रखती होगी तुम॥
वह है डङ्क तुम्हारा प्यारी और न कुछ उपकार करो।
केवल सुन्दरता की बू में बिन आई तुम आप मरो॥
यद्यपि मैं काली कुरूप हूं तो भी मुझको चाहें सब।
मेरे लिये बनाते घर हैं सर्दी का हो मौसिम जब॥

मधुर शहद लोगों दूं मैं, तू देती है दुख उनको ।
सुन्दरता तेरी ऐ प्यारी सुख पहुंचाती है किसको ॥
इस किस्से से प्यारे शिशुओ शिक्षा तुम को लेनी है ।
एक बात जो कड़वी है, पर फल मीठा है, कहनी है ॥
मिस्ल बर्र जो टर्रापन औ, क्रोध की ज्वाला तुम में हो ।
कोई पास नहीं फटकेगा, तुम चाहे कितने सुन्दर हो ॥

—मा० उमाशकर ।

३०

हित की बातें

[कुण्डलिया]

[१]

बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुध लेय ।
जो बनि आवे सहज में ताही में चित देय ॥
ताही में चित देय बात जोई बन आवै ॥
दुर्जन हंसै न कोय चित्त में खेद न पावै ।
कह गिरिधर कविराय यहै कर मन परतीती ।
आगे को सुख होय, समझ बीती सो बीती ॥

[२]

सांई ये न विरोधिये गुरु पंडित भरतार ।
बेटा, बनिता, पौरिया, यज्ञ करावन हार ॥
यज्ञ करावन हार, राजमन्त्री जो कोई ।
विप्र, परोसी, वैद, आप की तपै रसोई ॥
कह गिरधर कविराय यहै कैसी समुझाई ।
इन तेरह तै तरह दिये बनि आवे सांई ॥

[३]

बिना विचारे जो करै सो पीछे पछिताय ।
काम बिगारै आपनो जग में होय हंसाय ॥
जग में होय हंसाय चित्त में चैन न आवै ।
खान पान सन्मान राग रंग मनहिं न भावै ॥
कह गिरधर कविराय दुःख कछु टरत न टारै ।
खटकत है जिय माहिं किया जो बिना बिचारे ।

[४]

बैरी, बंधुआ, बानिया, ज्वारी, चोर, लबार ।
व्यभिचारी, रोगी, ऋणी, नगरनारि को यार ॥
नगरनारि को यार, भूल परतीत न कीजै ।
सौ सौ सौंहै खाय चित्त एकौ नहीं दीजै ॥
कह गिरधर कविराय घरै आवै अनगैरी ।
हित की कहै बनाय जानिये पूरो बैरी ॥

[५]

सांई अपने चित्त की भूल न कहिये कोय ।
तब लग मनमें राखिये, जब लगि कारज होय ॥
जब लगि कारज होय भूल नहिं कबहूं कहिये ।
दुरजन तातो होय आप सीरे ह्वै रहिये ॥
कह गिरधर कविराय बात चतुरन के ताईं ।
करतूती कह देत आप नहिं कहिये साईं ॥

[६]

चिंता ज्वाल शरीर बन दावा लगिलगि जाय ।
प्रगट धुवां नहिं देखिये उर अन्तर धुंधुवाय ॥

उर अन्तर धुंधुवाय जरै ज्यों कांच की भट्टी ।
जरगो लोहू मांस रह गयी हाड़ की टट्टी ॥
कह गिरधर कविराय सुनो हो मेरे मिन्ता ।
वे नर कैसे जियै जाहि तन व्यापै चिन्ता ॥

[७]

राजा के दरबार में जैये समयो पाय ।
साईं तहां न बैठिये, जहां कोउ देय उठाय ॥
जहां कोउ देय उठाय बोल अनबोले रहिये ।
हंहिये नहिं हरषाय बात पूछे तें कहिये ॥
कह गिरधर कविराय समय सौं कीजै काजा ।
अति आतुर नहिं होय बहुरि अनखै है राजा ॥

[८]

कृतघन कबहुं न मानिये कोटि करै जो कोय ।
सरबस आगे राखिये तऊ न अपनो होय ॥
तऊ न अपनो होय भले की भली न मानै ।
काम काढ़ि चुप रहे, फेर तिहि नाहिं पिछाने ॥
कह गिरधर कविराय रहत नितही निर्भय मन ।
मित्र शत्रु सब एक दामके लालच कृतघन ॥

[६]

जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग ।
जो संग राखै ही बने तो करि राखि अपंग ॥
तो करि राखि अपङ्ग फेरफर कैसो न कीजै ।
कपट रूप बतराय ताहि का मन हरि लीजै ॥
कह गिरिधर कविराय खुटक जैहै नहीं ताकी ।
कोटि दिलासा देहु लई धन धरती जाकी ॥

साईं अपने भ्रात को कबहुं न दीजै त्रास ।
पलक ओट नहिं कीजिये सदा राखिये पास ॥
सदा राखिये पास त्रास कबहूं नहिं दीजै ।
त्रास दियो लङ्केश तासु की गति सुन लीजै ॥
कह गिरधर कविराय राम सो मिलियो जाई ।
पाय विभीषण राज लङ्कपति बाजौ साईं ॥

[११]

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज ।
हरिनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज ॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे ।
दुश्मन दावादार भये महिमण्डल सिगरे ॥
कह गिरिधर कविराय उन्हें काहू न बताई ।
पिता पुत्र की रार लाभ एकौ नहिं साईं ॥

[१२]

साईं नदी समुद्र को मिली बड़प्पन जानि ।
जाति नास भो मिलत ही मान महत की हानि ॥
मान महत की हानि कहो अब कैसी कीजै ।
जल खारी ह्वै गयो ताहि कहु कैसे पीजै ॥
कह गिरधर कविराय मच्छ औ कच्छ सकुचाईं ।
बड़ी फजीहत होय तबै नदियन की साईं ॥

[१३]

साईं समौ न चूकिये यथा शक्ति अनुमान ।
को जाने को आय है तेरी पौर प्रमान ॥

तेरी पौर प्रमान समौ असमौ तकि आवै ।

ताको तू मन खोलि अंग भरि कण्ठ लगावै ॥

कह गिरिधर कविराय सबै यामैं सधिआई ।

शीतल जल फल फूल समौ जनि चूकौ साइं ॥

[१४]

साइं हरि ऐसी करी बलि के द्वारे जाय ।

पहले हाथ पसारि के बहुरि पसार्यो पांय ॥

बहुरि पसार्यो पांय मतौ राजा न बतायो ।

भूमि सबै हरि लई बांधि पाताल पठायो ॥

कह गिरिधर कविराय राव राजनि के ताइं ।

छलबल करि पर-भूमि लेत को तृपत्यो साइं ।

३१

यशोदा का विरह

(प्रिय प्रवास से)

प्रिय पति ! वह मेरा प्राण-प्यारा कहां है ।

दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहां है ॥

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूं ।

वह हृदय सहारा नैन तारा कहां है ॥१॥

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी ।

निशदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती ॥

उर पर जिसके है सोहती मुक्त-माला ।

वह नवनलिनी से नैन वाला कहां है ॥२॥

मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है ।

वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा ॥

धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला ।
सजल जलद की सी कान्ति वाला कहां है ॥३॥
प्रतिदिन जिसको मैं अङ्क में नाथ लेके ।
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी ॥
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला ।
वह किसलय के से अङ्ग वाला कहां है ॥४॥
वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा ।
करतल गत होता व्योम का चन्द्रमा था ॥
सदरव जिसका है रक्त सूखी नसों में ।
वह मधुमयकारी मानसों का कहां है ॥५॥
रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही ।
मम सदन बहाता स्वर्ग-मन्दाकिनी था ॥
श्रुति-पुट टपकाता बूंद जो था सुधा की ।
वह नव खनि न्यारी मंजुता की कहां है ॥६॥
स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी ।
मम परम निराशा-यामिनी का विनाशी ॥
व्रज-जन विहगों के वृन्द का मोद-दाता ।
वह दिनकर शोभी राम-भ्राता कहां है ॥७॥
मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी ।
अनुपम जिसका हूं शील सौजन्य पाती ॥
पर दुख लखके है जो समुद्विग्न होता ।
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहां है ॥८॥
गृह तिमिर निराशा का समाकीर्ण जो था ।
निज मुख-दुति से है जो उसे ध्वंसकारी ॥

सुखकर जिससे है कामना-जन्म मेरा ।
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहां है ॥९॥
सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटों को ।
बहु यजन कराके पूज के निर्जरों को ॥
यह सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा ।
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहां है ॥१०॥
मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा ।
कलरव करता था जो खगों सा वनों में ॥
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका था बनाता ।
वह बहु विध कंठों का विधाता कहां है ॥११॥
बन बन फिरती हैं खिन्न गाएं अनेकों ।
शुक भर भर आंखें भौन को देखता है ॥
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती ।
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहां है ॥१२॥
गृह गृह अकुलाती गोप की ग्वालिनें हैं ।
पथ पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो ॥
जिस कुंवर बिना मैं हो रही हूं अधीरा ।
वह खनि सुखमा का स्वच्छ हीरा कहां है ॥१३॥
बहु विभव वहां का देख के श्याम भूला ।
वह बिलम गया या वृन्द में बालकों के ॥
फंस कर जिसमें हा ! लाल छूटा न मेरा ।
सुफलक-सुत ने क्या जाल कोई बिछाया ॥११॥
परम शिथिल होके पन्थ की क्लान्तियों से ।
वह ठहर गया है क्या किसी वाटिका में ॥

प्रियतम ! तुम से या दूसरों से जुदा हो।

वह भटक रहा है या कहीं मार्ग ही में ॥१५॥

विपुल-कलित-कुञ्जें कालिन्दी-कूलवाली ।

अतुलित जिन में थी प्रीति मेरे प्रियों की ॥

पुलकित चित से वे क्या उन्हीं में गये हैं।

कपितय दिवसों की श्रान्ति उन्मोचने को ॥१६॥

विविध सुरभि वाली मण्डली बालकों की ।

पथ युगल सुतों ने क्या कहीं देख पाई ॥

निज सुहृद्जनों में, वत्स में, धेनुओं में ।

बहु विलम गये वे क्या इसी से न आये ॥१७॥

निकट अति अनूठे नीप फूले फले के ।

कलकल जो बहती धार है भानुजा की ॥

अति प्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहां का।

वह समुद उसे ही देखने क्या गया है ॥१८॥

यदि वह अति नेही शील सौजन्य शाली।

तज कर निज भ्राता को नहीं सद्म आया ॥

ब्रज-अवनि बता दो नाथ ! कैसे बसेगी

बिन वदन विलोके आज कैसे बचूंगी ॥१९॥

हा ! शोभा के सदन-सम, हा रूप लावण्य वारे।

हा ! बेटा, हा हृदय-धन, हा ! नैन-तारे हमारे ॥२०॥

कैसे होके अलग तुझ से आज लौं मैं बची हूं।

जो मैं ही हूं समझ न रुकी तो तुझे क्या बताद्रूं ॥

हा ! जीऊंगी न अब, पर है वेदना एक दोती ।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा ॥२१॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
(प्रियप्रवास-सप्तम सर्ग)

\+ + +

६

शिवा जी

जीती जाती हुई जिन्होंने भारत बाज़ी,
निजबल से मलमेट विधर्मी मुगल कुराजी ।
जिनके आगे ठहर सके जङ्गी न जहाज़ी,
है जग जाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी ॥१॥

वीर वंश में स्वयं जन्म था जिस माता का,
वीर कोख से वीर उसी ने जाया बांका ।
वीरोचित कर्तव्य उसी ने सुत का ताका,
अग्र शोच से गिरी उसी के मुगल पताका ॥२॥

राजपूत का रक्त मिला उसकी नस नस में,
क्यों फिर आकर शक्ति न होती उस के बस में,
थे जिसके सब चरित अलौकिक बाल-वयस में ।
करता सम्भव क्यों न असम्भव वह साहस में ॥३॥

दादो जी से वीर विप्र ने जिसे पढ़ाया,
रामदास ने जिसे धर्म-उपदेश सुनाया ।
वही शिवाजी वीर वीर माता का जाया,
रहने देता कहीं भला निज देश पराया ॥४॥

देश, नाम, कुल, धर्म, हिन्दुओं का मिट जाता,
अपना शब्द पुनीत न कोई कहने पाता ।

आर्य्य गुणों का गान कहां से कोई गाता,
यह अवतारी वीर न जो भारत में आता ॥५॥
करके उसका ध्यान चित्त होता है चञ्चल,
जिसके कारण बंधा हिन्दुओं का बिखरा बल।
उसे अश्व पर देख फूल उठता था रण-थल,
विकट मरहठे वीर जूझते थे दल के दल ॥६॥
दूर दूर जय ध्वजा शिवा जी ने फहराई,
निज स्वतन्त्रता गई हिन्दुओं ने फिर पाई।
एक बार फिर जन्म भूमि यह निज कहलाई,
राम राज्य की छटा दृष्टि में भी फिर आई ॥७॥
तिल तिल भारत भूमि जीत यवनों के कर से,
रच राई का मेरु बनाया ऊजड़ फिर से।
अष्ट प्रधान प्रबन्ध अनोखा कर जमधर से,
पाली पुत्र समान प्रजा अपनी आदर से ॥८॥
सहे देश के लिये उन्हों ने नाना सङ्कट,
गिने न पथ के कष्ट बाट भी लगी न ऊबट।
पग पग छिन छिन यदपि खड़े थे सिर पर घातक,
तो भी उनका झुका न रिपु के आगे मस्तक ॥९॥
कठिन विपत में भी न उन्हों ने त्यागा धीरज,
गूढ़ अनूठी युक्ति सोच साधा निज कारज।
आपस का विश्वास दूसरे देशों को तज,
आ धरता था सीस मरहठे के पद की रज ॥१०॥
निज भुजबल से शीघ्र राष्ट्र को महा बनाया,
हरिद्वार, गुजरात, सेतु, जगदीश जगाया।

वैश्यों को भी समर भूमि का खेल दिखाया,
पल में कर दी दूर परालम्बन की माया ॥११॥
करने को उद्धार देश का कुटिल मुगल से,
देश भक्ति थी भरी कुटी पर्य्यन्त महल से।
बीर मरहटे हटे न मर कर भी निज थल से,
सिसोदियों सम कटे खड़े घाटी में बल से ॥१२॥
राजनीति में रही शिवा जी की चतुराई,
जिसके आगे चली न मुग़लों की मुगलाई।
थी उनकी निर्दोष बुराई सदा भलाई,
बैरी ने भी छिपे बड़ाई उनकी गाई ॥१३॥
शूर, साधु, कवि, गुणी इन्हें थे जी से प्यारे,
दया भक्ति नयशील रहे ये हिय से धारे।
गुरु, गौ द्विज के चरण प्रेम से सदा पखारे,
किया न कोई काम बिना नृप-धर्म विचारे ॥१४॥
क्या सेना क्या सदन, बनिज क्या खेती खाता,
क्या शिक्षा, क्या धर्म प्रजा राजा का नाता।
क्या स्वराज क्या सभा पक्ष सीरा क्या ताता,
रहा सभा में विद्यमान यह भारत खाता ॥१५॥
भरत-खण्ड में आज शिवाजी यदपि नहीं हैं,
तो भी उनके चिन्ह यहां पर सभी कहीं हैं।
इनसे इनकी कीर्ति-लता नूतन उलही है,
नये जोश से भक्ति-भावकी नदी बही है ॥१६॥
उचित यही है करें वीर पूजा मिल हम सब,
यही धर्म है सत्य यही है सच्चा करतब।

भारत पर अति कठिन विपति आती है जब जब,
इसी भांति अवतार ईश लेते हैं तब तब ॥१७॥

+ + +

३३

भक्त की अभिलाषा

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूं,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूं।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक-बूंद समान हूं,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूं ॥१॥
तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूं,
तू है अगर दक्षिण पवन तो मैं कुसुम की धूल हूं।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूं,
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अंक में आसीन हूं ॥२॥
तू है सर्वाधार जो तो एक मैं आधेय हूं,
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या अश्रेय हूं।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूं,
तुझको नहीं मैं भूलता हूं दूर हूं या पास हूं ॥३॥
तू है पतित-पावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूं,
छल से तुझे यदि है घृणा तो मैं कपट से दूर हूं।
है भक्ति की यदि भूख तुझ को तो मुझे तव भक्ति है,
अति प्रेम है तेरे पदों में, प्रेम है आसक्ति है ॥४॥
तू है दया का सिन्धु तो मैं भी दया का पात्र हूं,
करुणेश तू है चाहता मैं नाथ करुणा-पात्र हूं।

तू दीन-बन्धु प्रसिद्ध है मैं दीन से भी दीन हूं,
तू नाथ ! नाथ अनाथ का असहाय मैं प्रभु हीन हूं ॥५॥
तव चरण अशरण शरण हैं मुझको शरण की चाह है,
तू शीतकर है दग्ध को मेरे हृदय में दाह है।
तू है शरद राका-शशी मम चित्त चारु चकोर है,
तव ओर तजकर देखता यह और की कब ओर है ॥६॥
हृदयेश अब तेरे लिये है हृदय व्याकुल हो रहा,
आ, आ, इधर आ, शीघ्र आ, यह शोर यह गुल हो रहा।
यह चित्त चातक है तृषित कर शान्त करुणा वारि से,
घनश्याम तेरी रट लगी आठों पहर है अब इसे ॥७॥
तू जानता मन की दशा रखता न तुझ से बीच हूं,
जो कुछ कि हूं तेरा किया हूं, उच्च हूं या नीच हूं।
अपना मुझे अपना समझ, तपना न अब मुझको पड़े,
तज कर तुझे यह दास जा कर द्वार अब किस के अड़े ॥८॥
तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूं,
सब भावनायें छोड़कर अब कर रहा यह शोर हूं।
मुझमें समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है,
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूं तू और है ॥९॥

—"सनेही"।

\+ + +

३४

प्रताप विसर्जन

उन्नत सिर गिरि अवलि गगन सों उत बतरावत।
इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत ॥

मन्द पवन सीरी बहै होन लगे पतझार ।
पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानौं कोउ अवतार ॥
हरन भुव भार को ।

मुख मंडल अति शांत कान्तिमय चितवन सोहै ।
भरे अनेकों भाव व्यग्र चारिहुं दिशि जोहै ॥
वीर मण्डली घेरि कै प्रभु की गति रहे जोहि ।
मनु भीषम सर-सयन परे कौरव पाण्डव रहे सोहि ॥
हृदय उमड्यो परै ॥

लखि निज प्रभु की अंत समय की वेदन भारी ।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी ॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उद्वेग महान ।
हाथ जोरि विनती कियो अति हरुवे लगि प्रभु कान ॥
नैन आरत सनै ॥

अहो नाथ, हे वीर-सिरोमनि ! भारत स्वामी ।
हिन्दू-कीरति थापन में समरथ शुभ नामी ॥
कहां वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहं ध्यान ?
देखि कष्ट हिय फटत है, केहि संकट में प्रान ॥
कृपा करके कहो ॥

सुनत दुख-भरे बैन नैन तिनके दिसि फेर्यो ।
भरि कै दीरघ सास सबन तन व्याकुल हेर्यो ॥
पुनि लखि सुत तन फेरि मुख अति संतप्त अधीर ।
धरि धीरज अति छीन सुर बोले बचन गंभीर ॥
परम आतंक सों ॥

हे हे वीर-सिरोमनि सब सरदार हमारे ।
हे विपत्ति-सहचर प्रताप के प्रान पियारे ॥

तुव भुज-बल लहि मैं भयो रक्षा करन समर्थ ।
मातृ-भूमि स्वाधीनता को प्रबल शत्रु करि व्यर्थ ॥
अनेकन कष्ट सहि ॥

या प्रताप नै उचित कहो कै अनुचित भाख्यो ।
वा स्वतन्त्रता हेतु जगत-सुख तृन सम नाख्यो ॥
ढाहि महल खंडहर किये सुख सामान विहाय ।
छानि बनन की धूरि को गिरि गिर सों टकराय ॥
क्लेश को लेश नहीं ॥

पै जब आवत ध्यान लह्यो जो सहि दुख इतने ।
सो अमूल्य निधि मम पाछे रहिहै दिन कितने ॥
तुच्छ वासना में पग्यो दुःख सहन असमर्थ ।
चञ्चल अमरहिं देखि कै होत आस सब व्यर्थ ।
सोचि भावी दशा ॥

कहि दुखमय ये बचन अमरतन दुख सों देख्यो ।
मूंदि नैन जल भरे सांस लै सब दिसि पेख्यो ।
सन्नाटा चहुं दिसि छयो सब के मुख गम्भीर ।
पृथ्वी दिसि हेरैं सबै भरे महा हिय पीर ॥
बैन नहिं कछु कढ़ैं ॥

करि साहस पुनि राव सलुमर सीस नवायो ।
अभिवादन कर अति विनीत यह बचन सुनायो ।
प्रिथीनाथ यह सोच क्यों उपज्यो प्रभुहिय आज ।
कुंवर बहादुर तैं परी कौन चूक केहि काज ।
निरासा जो भई ॥

दिवस रम्य, निशा रमणीय है,
सब दिशा विदिशा कमनीय है।
सुखद, मन्द, सुगन्ध समीर है,
चित चहे अब शीतल नीर है ॥२॥
विविध पुष्प खिले छबिवन्त हैं,
अति मनोहर रङ्ग अनन्त हैं।
मधुप को करते मधु-दान हैं,
अतिथि का करते सब मान हैं ॥३॥
दुखित दीन जिन्हें हिम की व्यथा,
असहनीय रही नित सर्वथा।
मुदित हैं अति शीत-विनाश से,
छुट गये अब वे यम पाश से ॥४॥
खिल गये अब पङ्कज-पुञ्ज हैं,
कर रहे जिन पै अलि गुञ्ज हैं।
मिट तुषार गया अब सर्वथा,
विशद कान्ति हुई शशि की तथा ॥५॥
भ्रमर शब्द मनोहर गान है,
सुमन ही जिनकी मुसकान है।
पवन कम्पित मंजु लता सब,
सुखद नृत्य मनो करतीं अब ॥६॥
फूले अनार, कचनार, अशोक जाल,
धारे रसाल नव पल्लव लाल लाल।
चम्पाकली हर रही मन रूप राशि,
श्रीमद्वसन्त नृप की बलि दीपिका सी ॥७॥

फूले फले अब सभी द्रुम हैं सुहाते,
बैठे विहंग जिनकी सुषमा बढ़ाते।
शोभा मनोज्ञ शुक के मुख की चुराये,
लेते पलाश बन में मन को लुभाये ॥८॥

है पृथ्वी में अतिशय सभी ओर आनन्द छाया,
क्या पत्ती, क्या पशु, तरु-लता है सभी में समाया,
धीरे धीरे अब गगन में श्रीसहस्रांशु जाते।
मानो वे भी मुदित जग को देख हैं मोद पाते ॥९॥

पुष्पों की ले सुरभि बहता वायु है मन्द मन्द,
लोनी लोनी नल लतिका कम्प पातीं अमन्द।
मानो आता निकट लख के वायु को वे लजातीं,
जल्दी से वे बस इसलिए शीश नीचे नवातीं ॥१०॥

बैठी वृक्षों पर मुदित हो कोकिलें बोलती हैं,
मानो मीठी श्रवण पुट में शर्करा घोलती हैं।
है भृङ्गो के सहित अति कुन्द का फूल भाता।
मानों माती ललित अलकों से घिरा है सुहाता ॥११॥

स्वर्णाभूषण कर्णिकार जिसका अत्यन्त शोभा सना,
धारे किंशुक रूप लाल पठ जो सौन्दर्यशाली बना।
भाती कज्जल सी ललाम जिसके है मंजु भृङ्गावली,
लेती मोह वनस्थली न किसको यों अंगना सी भली ॥१२॥

—श्री गोपालशरण सिंह

३६

अन्योक्ति

(मेघ के प्रति कृषक की उक्ति)

धनी रतनाकर से घनी मेघमाला लाई,
मुक्ता-मनी से वारि-बुन्द बरसायो है ।
कनकछरी सी खरी दामिनी धरी है हाथ,
रजत-पहार सों धवल घन लायो है ॥
हीरक से स्वेत लालमनि से सुमन लाल,
हरित मनी से हरे तृन पै सजायो है ।
दारिद-नसावन औ सुख सरसावन या ।
सावन-सुहावन कुबेर बनि आयो है ॥

\+ + +

३७

चेतावनी

मानुष को तन पाय अन्हाय अघाय पियो किन गङ्ग को पानी ।
भाषत क्यों न भयो पदुमाकर रामहिं राम रसायन बानी ॥
सारङ्गपानि के पायन को तजि कै मन रे ! कत होत गुमानी ।
मोटी मुचण्ड महाबन वारिनि मूंड़ पै मीचु फिरै मंडरानी ॥

\+ + +

३८

समुद्र

गरजै बातन ते कहा, धिक नीरधि गम्भीर ।
विकल बिलोकैं कूप पथ तृषावन्त तो तीर ॥

तृषावन्त तो तीर फिरैं तोहि लाज न आवै।
भंवर लोल कल्लोल कोटि निज विभव दिखावै॥
बरने दीन दयाल सिन्धु तोको को बरजै।
तरल तरङ्गी ख्याल वृथा बातन ते गरजै॥

\+ + +

३९

यमुनातट

(१)

मृदु कलरव से क्या करती हो, यमुने ! मुझ से कहो, कहो,
रोते हैं क्या सिन्धु-बिरह से आज तुम्हारे प्राण अहो !
यदि ऐसा है तो राधा से मन की कथा कहो सारी,
नहीं जानती हो क्या, वह भी भी विरहानल की मारी॥

(२)

सूर्यसुते ! गिरिराज भवन में तुम्हें पालती घनावली,
जन्मी हो तुम राज-वंश में, यथा सुमन में सुरभि भली ?
फिर राधा से लज्जा कैसी, उचित तुम्हें क्या है यह भी ?
नहीं जानती हो तुम क्या यह ? राजनन्दिनी है वह भी॥

(३)

आओ सखि ! हम तुम दोनों ही बैठें बस एकान्त यहां,
करें मनोज्वल दोनों का हम दोनों हो कुछ शान्त यहां।
फिरती हूं तव तट पर सहसा मैं तव अतिथि अनाथा हूं।
कल्लोलिनि ! दृग जल से भीगी गाती प्रिय-गुण गाथा हूं॥

(४)

फेंक दिये हैं मैंने सौ सौ रत्नाभूषण रम्य नितान्त,
बिखराईं फूलों की माला करने को मन का दुख शान्त।

[४]

सुन लो बोल रहे वृक्षों पर, प्रमुदित कोकिल कीर।
सुखमय दिवस बढ़ेगा जैसे द्रुपद-सुता का चीर ॥

[५]

कोमल कमल अभी खिलता है—तव जीवन का हीर।
मनोकामना पूरण होगी, मिट जावेगी पीर ॥

[६]

चूस चूस कर फिर रस लेना, दृढ़प्रतिज्ञ! धुर-धीर !!
जग जीवन का सार यही है, प्रण न त्यागना वीर ॥
भ्रमर! अब मत हो अधिक अधीर।

—मातादीन शुक्ल।

+ + +

४१

सिन्धु और बिन्दु

[१]

तुम सिन्धु हो हम बिन्दु हैं, यह एक भारी भेद है।
तुम से हुए हम हैं पृथक् इसका हमें भी खेद है ॥
पर थे कभी तुम में मिले इसका हमें अभिमान है।
फिर भी मिलें तुम में कभी इसका हृदय में ध्यान है ॥

[२]

यह शृंखला जातीयता की, आप-हम में एक है।
हम बिन्दु हैं तुम सिन्धु हो, यह बाह्यरूप विवेक है ॥
जो शक्ति तुम में है भरी, मुझ में वही है छा रही।
हम एक दोनों थे कभी, यह तत्त्व है बतला रही ॥

[३]

सन्ताप पाने से यथा, जलता हृदय है आपका ।
होता तथा मेरे हृदय पर, ताप भी सन्ताप का ॥
हम शुष्क होते हैं तुरत सन्ताप पाते ही अहा !
सत्ता हमारी लुप्त हो, यह दुःख होता है महा ॥

[४]

तुम सिन्धु हो सन्ताप से भी दीन हो सकते नहीं ।
सर्वस्व अपना शुष्क कर तुम हीन हो सकते नहीं ।
सन्ताप की क्या बात है, बड़वाग्नि ने क्या कर लिया ।
ज्वाला तड़पती रह गई फिर पेट अपना भर लिया ।

[५]

पर शोक है इस बिन्दु को, घेरें सहस्रों आपदा ।
सन्ताप मुख बाये हुए, उद्युक्त रहता है सदा ॥
वह वायु भी मम ग्रास करने को यहां है फिर रहा ।
हा ! क्या कहूं अति घोर दुख से आज मैं हूं घिर रहा ॥

[६]

सब कुछ तुम्हारे हाथ है कुछ भी नहीं मैं कर सकूं ।
कैसे किसी प्यासे हृदय को नीर से मैं भर सकूं ॥
उपकार करने के लिए सामर्थ्य मुझ में है नहीं ।
मैं बिन्दु होकर क्या करूं ? कोई ठिकाना है कहीं ?

[७]

गम्भीर नीर अगाध तुम, हम तुच्छ अतिशय हो रहे ।
बढ़ती तुम्हारी है सदा ! हम नित्य सत्ता खो रहे ॥

किसका करूं मैं कार्य हा ! जब मैं स्वयं कुछ भी नहीं।
सूख जाने पर हमारे, क्या हमें कुछ भी कहीं ॥

[८]

विनती हमारी मान के, हम को मिला लो आप में।
हम भी तुम्हारे साथ ही, सन्तप्त हों सन्ताप में ॥
सुख दुःख का एकत्व हो, यह भिन्नता भी दूर हो।
पार्थक्य दुख जाता रहे, एकत्व प्यारा पूर हो ॥

[९]

जब जीव मिलता ब्रह्म में सारे दुखों को छोड़ कर।
होता अटल आनन्द है, सम्बन्ध उससे जोड़ कर ॥
बस अब मिलालो तुम मुझे कितना विकल भटका किया,
दुख में अनाथों के सदृश, मैं आज तक फटका किया ॥

[१०]

तुम और हो हम और हैं, यह भेद अब जाता रहे।
हम आप दोनों एक हों, संबन्ध मन भाता रहे ॥
यह बिन्दु भी फिर सिन्धु हो, आशा यही है लग रही।
सत्प्रेम की आभा हृदय में जगमगाती जग रही ॥

[११]

इस बिन्दु से क्या लाभ है यह मान कर अपमान है।
तो बिन्दु के ही योग से तव नाम नीर-निधान है ॥
अपनी अवस्था भूलनी चाहिये न सज्जन को कभी।
तुम भी कभी थे बिन्दु ही, पर हो गये नीरधि अभी ॥

[१२]

तुम बिन्दु के फिर बिन्दु ही रह जाओगे नीरधि कभी।
संसार दृश्यागार है, देखो दिखाता है सभी ॥

अभिमान तुम यह मत करो, मैं आज हूं नीरधि बना।
इस बिन्दु के ही योग से, तू होगया है अति घना॥

[१३]

इस से हमारी मान कर अपनी कथा को जान कर।
निज अंग मुझ को ध्यान कर अब तू न इतनी शान कर॥
मुझको मिला ले, मेल से मिलती सभी हैं सम्पदा।
तुझ को न मुझ को सिन्धु हो, रहना यहां है सर्वदा॥

[१४]

मुझको मिला ले सिन्धु हे, तेरा कृतज्ञ बना रहूं।
संयुक्त हो तुझ में मिलूं, सानन्द मोद-सना रहूं॥
जलराशि रूप अनन्त ईश्वर, बिन्दु यह मिल जाऊं मैं।
कृतकृत्य नित्यानन्द में, सौभाग्य से खिल जाऊं॥

"कविकुमार" महेश्वर प्रसाद शास्त्री।

+ + +

४२

परोपकार

[१]

अनल्प तोयराशि है पयोद-वृन्द दे रहा।
समस्त विश्व बीच आज उच्च भाग ले रहा॥
किया उसे सुमिष्ट जो समुद्र-नीर क्षार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

[२]

नदी वनावनी बनी परार्थ सौख्य के लिए।
फले अनेक वृक्ष हैं प्रसून पुष्प हैं दिये॥

समस्त विश्व चक्र में यही बड़ा विचार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

[३]

दधीचि वीर ने अहा! निजास्थि दान दे दिया।
महानुभाव धन्य हैं न लोभ प्राण का किया॥
यही अमूल्य जन्म का महत्त्व से सुधार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

[४]

सदैव स्वार्थ में रहे मनुष्य मूढ़ जो जिये।
शरीर के लिए समस्त कार्य विश्व में किये॥
पशूपमान बर्तना अनर्थ है विकार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार॥

[५]

शरीर बुद्धि चित्त से सदा परार्थ ज्ञान हो।
न स्वार्थ अन्ध हो कभी समान मान दान हो॥
यही पवित्र जन्म का स्वतन्त्रता-विहार है।
मनुष्य के शरीर का परोपका सार है॥

[६]

न कीर्तिकल्प वल्लरी कभी हुई हरी भरी।
न पुण्य-पूर्ण-निर्झरी कभी बही सुधा-धरी॥
अमूल्य जन्म जो मिला यही बड़ी बहार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

[६]

न वित्त से प्रमत्त हो चलो कभी कुमार्ग में।
स्वधर्म कर्म मर्म में विवेक से रहो जमे॥

यही पवित्र धर्म के विभुत्व का प्रसार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

[८]

समस्त वस्तु विश्व में परोपकार-हेतु है।
भवाब्धि पार के लिये यही विचित्र सेतु है॥
यही प्रसन्न कीर्ति के प्रवाह का प्रकार है।
मनुष्य के शरीर का परोपकार सार है॥

"कविकुमार" महेश्वर प्रसाद शास्त्री।

\+ + +

४३

सत्य

(१)

सत्य सृष्टि का सार सत्य निर्बल का बल है,
सत्य सत्य है, सत्य नित्य है, अचल अटल है॥
जीवन-भर में सरस मित्रवर! यही कमल है,
मोद मधुर मकरन्द, सुयश सौरभ निर्मल है॥
मन-मिलिन्द मुनि वृन्द के मचल मचल इस पर गये।
प्राण गये तो इसी पर, न्योछावर होकर गये॥

(२)

अटल सत्य का प्रेम भरे जिस नर के मन में,
पाये जो आनन्द आत्म बल के दर्शन में॥
पशु-बल समझे तुच्छ खड्ग भूषण गर्दन में।
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन्सन में॥

जीवन में बस प्रेम ही, जिसका प्राणाधार हो।
सत्य गले का हार हो, इतना उस पर प्यार हो॥

(३)

इस पथ में बस वही बीर पहुंचा मंज़िल पर,
डाल न सकती शक्ति मोहिनी जिसके दिल पर॥
उससे भिड़कर कौन भाल फोड़ेगा सिल पर,
'खेड़े' में हो अड़ा या कि वह 'रौलटबिल' पर॥
समझो सम्मुख ही धरा, जो कुछ उसका ध्येय है।
विश्व-विजयिनी शक्ति यह, परम अभेद्य, अजेय है॥

(४)

सह कर सिर पर मार मौन ही रहना होगा।
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा॥
रंग महल सी जेल आहनी गहना होगा।
किन्तु न मुख से कभी "हन्त हा!" कहना होगा॥
डरना होगा ईश से, और दुखी की हाय से।
भिड़ना होगा ठोंक कर खम अनीति अन्याय से॥

(५)

तुम होगे सुकरात ज़हर के प्याले होंगे,
हाथों में हथकड़ी पगों में छाले होंगे॥
'ईसा' से तुम और जान के लाले होंगे,
होंगे तम निश्चेष्ट डस रहे काले होंगे॥
होना तुम व्याकुल कहीं, इस भव-जनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद से॥

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अंगारे,
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे ॥
क्या ग़म है, गर छूट जायेंगे साथी सारे,
बहलावेंगे चित्त चन्द्र चमकीले तारे ॥
दुख में सुख अरु शान्ति का नव अनुभव हो जायगा ।
प्रेम-सलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा ॥

(७)

धीरज देगी तुम्हें मित्रवर ! मीराबाई,
प्रेम-पयोनिधि-थाह भक्ति से जिस ने पाई ॥
रही सत्य पर डटी प्रेम से बाज न आई,
कृष्ण रङ्ग में रंगी कीर्ति उज्ज्वल फैलाई ।
आई भी उसकी टली वह विष प्याला पी गई ।
मरी उसी की गोद में जिसको पाकर जी गई ॥

(८)

सत्य रूप हे नाथ ! तुम्हारी शरण रहूंगा,
जो व्रत है ले लिया, लिये आमरण रहूंगा ॥
ग्रहण किये मैं सदा आपके चरण रहूंगा ।
भीत किसी से और न हे भयहरण रहूंगा ॥
पहली मंजिल मौत है, प्रेम-पन्थ है दूर का ।
सुनता हूं मत था यही, सूली पर मन्सूर का ॥

—"सनेही" ।

× × +

४४

शिक्षा

(१)

सब से प्रथम कर्तव्य है शिक्षा बढ़ाना देश में,
शिक्षा बिना ही पड़ रहे हैं आज हम सब क्लेश में ॥
शिक्षा बिना कोई कभी बनता नहीं सत्पात्र है,
शिक्षा बिना कल्याण की आशा दुराशा मात्र है ॥

(२)

जब तक अविद्या का अंधेरा हम मिटावेंगे नहीं,
जब तक समुज्ज्वल ज्ञान का अवलोक पावेंगे नहीं।
तब तक भटकना व्यर्थ है सुखसिद्धि के सन्धान में,
पाये बिना रथ पहुंच सकता कौन इष्ट स्थान में ?

(३)

वे देश जो हैं आज उन्नत और सब संसार में,
चौंका रहे हैं नित्य सब को नव-नवाविष्कार से।
बस ज्ञान के संचार ही से बढ़ सके हैं वे वहां ॥
विज्ञान-बल से ही गगन में चढ़ सके हैं वे वहां ॥

(४)

विद्या मधुर सहकार करती सर्वथा कटु निम्ब को,
विद्या ग्रहण करती कलों से शब्द को प्रतिबिम्ब को।
विद्या जड़ों में भी सहज ही डालती चैतन्य है,
हीरा बनाती कोयले को धन्य विद्या धन्य है ॥

(५)

विद्या दिनों का पथ पलों में पार है करवा रही,
विद्या विविध वैचित्र्य के भण्डार है भरवा रही।

गति सिद्ध उसकी हो चुकी आकाश में पाताल में।
है वह मरों को भी जिलाना चाहती कुछ काल में।

(६)

पाया हमीं से था कभी जो बीज उस विज्ञान का,
उस को दिया है दूसरों ने रूप रम्योद्यान का।
हम किन्तु खो बैठे उसे भी जो हमारे पास था,
हा ! दूसरों की वृद्धि में ही क्या हमारा ह्रास था !

—मैथिलीशरण गुप्त।

× × ×

४५

भयंकर भर्त्सना

[महाराजा जसवन्तसिंह जब औरङ्गजेब की सेना से पराजित हो रणभूमि छोड़ घर पहुंचे तब उनकी रानी "विन्दुमती" ने उनकी भीरुता पर क्रुद्ध हो कर यह वचन कहे]

(१)

हे ना—नहीं, 'नाथ' नहीं कहूंगी,
अनाथिनी हो कर ही रहूंगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या तुम पीठ फेरे॥

(२)

यथार्थ ही क्या मुंह को छिपाये,
संग्राम से हो तुम भाग आये !
धिक्कार है, हा ! अब क्या करूं मैं,
रक्खी कहां मौत कि जो मरूं मैं॥

(३)

हा ! पीठ वैरी-दल को दिखा के,
त्यों हार माथे पर यों लिखा के ।
आये दिखाने मुंह को यहां क्या ?
भला बनेगा तुम से यहां क्या ?

(४)

परन्तु मैं होकर वीर-बाला,
जो लोक में हैं करती उजाला ।
देखूं तुम्हारा मुंह आज कैसे ?
सहूं कहो तो यह लाज कैसे ॥

(५)

आये यहां क्या छिपने घरों में ?
या रानियों के घन घाघरों में ।
परन्तु भागे तुम भीरु ज्योंही,
हुए कहो क्या हत वे न त्योंही ॥

(६)

थी मृत्यु की जो इस भांति भीति,
जो थी मिटानी सब रीति नीति ।
तो जन्म क्यों सत्कुल में लिया था,
क्यों ब्याह राना-कुल में किया था ॥

(७)

जयाब्धिजा को न वरा गया जो,
न युद्ध का सिन्धु तरा गया जो ।
तो क्या मरा भी न गया समत्त ?
डूबा सभी हा ! तुमसे स्वपक्ष ॥

(८)

राठौर ! क्या लाज तुम्हें न आई—
जो कीर्ति दोनों कुल की मिटाई।
क्या देह से है यश हाय ! छोटा ?
या मृत्यु से है अमरत्व खोटा ।

(९)

संग्राम में जो तुम काम आते,
तो लोक में निश्चल नाम पाते ।
मैं भी सती होकर धन्य होती,
न क्षत्रिया होकर आज रोती ॥

(१०)

न भाग्य में था यह किन्तु मेरे,
दुर्दैव ! हैं ये सब काम तेरे ।
तू जो करे सो सब ठीक ही है,
मनुष्य विश्वास अलीक ही है ॥

(११)

मां मेदिनी ! तू फट मैं समाऊं,
कुकीर्ति से जो अब त्राण पाऊं ।
न लोक में मैं यदि जन्म पाती,
तो भीरु-भार्या फिर क्यों कहाती ॥

(१२)

नहीं नहीं मैं यदि भीरु-भार्या,
तो कौन होगी फिर और आर्या।
हां, है तुम्हीं ने कुल-लाज खोई,
परन्तु मेरे तुम हो न कोई ॥

(१३)

सीसोदियों के वन के जमाई,
है कीर्ति अच्छी तुमने कमाई।
आई तुम्हें लाज न नाम की भी,
रक्षा न होगी अब धाम की भी ॥

(१४)

सुना तुम्हें था वर-वीर मैंने।
सौंपा तभी था स्वशरीर मैंने,
यथार्थता किन्तु मुझे तुम्हारी,
अभी हुई है यह ज्ञात सारी ॥

(१५)

विशाल वक्षःस्थल, दीर्घ-भाल,
आजानु लम्बे युग बाहु जाल।
थे देखने ही भर को तुम्हारे,
ज्यों चित्र में अङ्कित अङ्ग सारे॥

(१६)

क्या क्षत्रियों का वह उष्ण रक्त,
हुआ यहां लों अब है अशक्त।
बहा सके जो न विपक्षियों को,
दुराग्रही गो-धन-भक्षियों को ॥

(१७)

दैवात् कभी शत्रु कुदृष्टि लावें,
सोत्साह मेरे हरणार्थ आवें।

भयंकर भर्त्सना

तो क्या मुझे भी तुम छोड़ भागो ?
आश्चर्य क्या जो मुंह मोड़ भागो ॥

(१८)

विश्वास क्या भीत पलातकों का ?
सुकर्म औ धर्म-विघातकों का ।
कर्तव्य से जो च्युत हो चुके हों,
क्या है जिसे वे न डुबो चुके हों ॥

(१९)

जाओ, यहां से तुम लौट जाओ,
तुम्हें यहां स्थान नहीं कि आओ ।
हो शून्य तो भी यह सिंह-पौर;
है गीदड़ों को इस में न ठौर ॥

(२०)

चाहे अवज्ञा करके तुम्हारी,
मैंने किया हो अपराध भारी ।
परन्तु मैं होकर क्षत्रियाणी,
कैसे कहूं हा ! न यथार्थ वाणी ॥

(२१)

मेरा तुम्हारा न मिलाप होगा,
हा ! शान्त कैसे यह ताप होगा ।
सर्वेश लेवें सुधि शीघ्र मेरी,
देवें मुझे मृत्यु करें न देरी ॥

— मैथिलीशरण गुप्त ।

\+ \+ \+

४६

निमन्त्रण

(१)

तेरी चरण-कमल-वेदी पर,
बार बार बलि होने को ।
तव युग लोचन-दृष्टि-वृष्टि में,
डूब डूब तन धोने को ॥

(२)

मन्द मधुर मुस्कान सुधा-रस,
पीकर तृषा बुझाने को ।
अविश्वास संकोच-जाल में,
उलझा मन सुलझाने को ॥

(३)

स्नेह-सलिल-सागर उमड़ा कर,
नीरस हृदय सिझाने को ।
रुचिर राग की रचना से फिर,
रोकर तुम्हें रिझाने को ॥

(४)

निर्मोही नीरस मानस में,
करुणा-रस बरसाने को ।
इस उदास सन्ताप-ताप से,
कठिन हृदय पिघलाने को ॥

निमन्त्रण

(५)

चरण-कमल पर चंचरीक चित,
चंचल चारु चढ़ाने को ।
मोहन गुण-गणगेह गान की,
तान तरङ्ग बढ़ाने को ॥

(६)

तव रसना माधुरी-राशि में,
श्रवण युगल नहलाने को ।
या इस मूक मूर्ति की लीला,
में मन के बहलाने को ॥

(७)

रम्य सुरूप रङ्ग रचना में,
मोहित हो रम जाने को ।
या इस भोलेपन पन पर प्यारे !
बिना मोल बिक जाने को ॥

(८)

"मौन-मन्त्र" की कठिन प्रतिज्ञा,
प्रभुवर आज छुड़ाने को ।
चलिये मन-मन्दिर में मेरे ।
आया आज बुलाने को ॥

—रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' ।

× ×

४७

भारत की श्रेष्ठता

(१)

भूगोल का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहां ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा-जल जहां।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥१॥

(२)

हां वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है।
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?
भगवान की भव भूतियों का यह प्रथम भण्डार है।
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है ॥२॥

(३)

यह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी 'आर्य' हैं,
विद्या, कला-कौशल्य सब के जो प्रथम आचार्य हैं।
सन्तान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े,
पर चिह्न उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े ॥३॥

(४)

उन पूर्वजों के कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है;
गाते हमीं गुण हैं न उनके गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृन समान शरीर थे,
उन से वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे ॥४॥

(५)

आदर्श जन संसार में इतने कहां पर हैं हुए ?
सत्कार्य भूषण आर्य-गण जितने यहां पर हैं हुए ।
हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे,
पर दूसरों के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे ॥५॥

(६)

सत्पुत्र पुरु से थे जिन्होंने तात हित सब कुछ सहा,
भाई भरत से थे जिन्होंने राज्य भी त्यागा अहा !
जो धीरता के वीरता के प्रौढ़तम पालक हुए,
प्रह्लाद, ध्रुव, कुश लव, तथा अभिमन्यु सम बालक हुए ॥६॥

(७)

वह भीष्म का इन्द्रिय दमन उनकी धरा सी धीरता,
वह शील उन का और उनकी वीरता गम्भीरता,
उन की सरलता और उनकी वह विशाल विवेकता ।
है एक जन के अनुकरण में सब गुणों की एकता ॥७॥

— मैथिलीशरण गुप्त ।

("भारत-भारती" से उद्धृत)

× × ×

४८

मौर्य-वियज

(१)

जग में अब भी गूंज रहे हैं गीत हमारे,
शौर्य वीर्य गुण हुए न अब भी हम से न्यारे ।

रूम, मिश्र चीनादि कांपते रहते सारे,
यूनानी तो अभी अभी हम से हैं हारे।
सब हमें जानते हैं सदा भारती हम हैं अभय।
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय ॥१॥

(२)

साक्षी है इतिहास, हमीं पहले जागे हैं,
जागृत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं।
शत्रु हमारे कहां नहीं भय से भागे हैं,
कायरता से कहां प्राण हमने त्यागे हैं ?
हैं हमीं प्रकम्पित कर चुके सुरपति तक का भी हृदय।
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय ॥२॥

(३)

कहां प्रकाशित नहीं रहा है तेज हमारा ?
दलित कर चुके सभी शत्रु हम पैरों द्वारा।
बतलाओ वह कौन नहीं जो हम से हारा ?
पर शरणागत हुआ कहां कब हमें न प्यारा ?
बस, युद्ध मात्र को छोड़ कर कहां नहीं हैं हम सदय ?
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय ॥३॥

(४)

कारण वश जब हमें क्रोध कुछ हो आता है,
अवनि और आकाश प्रकम्पित हो जाता है ॥
यही हाथ वह कठिन कार्य कर दिखलाता है,
स्वयं शौर्य भी जिसे देख कर सकुचाता है ॥

हम धीर बीर गम्भीर हैं, है हम को कब कौन भय ?
फिर एक बार हे विश्व ! तुम गाओ भारत की विजय ॥४॥

—मैथिलीशरण गुप्त ।

× × ×

४९

ठुकरा दो या प्यार करो

देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढङ्ग से आते हैं ।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रङ्ग की लाते हैं ॥१॥
धूम धाम से साज बाज से, वे मन्दिर में आते हैं ।
मुक्ता मणि बहुमूल्य वस्तुएं, लाकर तुम्हें चढ़ाते है ॥२॥
मैं ही हूं गरीबनी ऐसी, जो कुछ साथ नहीं लाई ।
फिर भी साहस कर मन्दिर में पूजा करने को आई ॥३॥
धूप दीप नैवेद्य नहीं है, झांकी का शृंङ्गार नहीं ।
हाय ! गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं ॥४॥
स्तुति मैं कैसे करूं कि स्वर में, मेरे है माधुरी नहीं ।
मन का भाव प्रकट करने को, मुझ में है चातुरी नहीं ॥५॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई ।
पूजा की भी विधि न जानती, फिर भी नाथ चली आई ॥६॥
पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो ।
दान दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो ॥७॥
मैं उन्मत्त प्रेम का लोभी हृदय दिखाने आई हूं ।
जोकुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूं ॥८॥

चरणों पर है अर्पण इसको चाहे तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो ॥६॥

—सुभद्रा कुमारी चौहान।

× × ×

५०

चलते समय

(१)

तुम मुझे पूछते हो "जाऊं" ?
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो।
"जा" कहते रुकती है ज़बान,
किस मुंह से तुम से कहूं "रहो" ॥

(२)

सेवा करना था जहां मुझे,
कुछ भक्ति-भाव दर्शाना था।
उन कृपा कटाक्षों का बदला,
बलि होकर जहां चुकाना था ॥

(३)

मैं सदा रूठती ही आई प्रिय,
तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह मान बाण चुभता है अब तो,
देख तुम्हारा यह जाना ॥

—सुभद्रा कुमारी चौहान।

\+ + +

५१

ग्रीष्म का अन्तिम गुलाब

(१)

ग्रीष्म काल के अन्त समय की,
यह कलिका है अति प्यारी।
विकसी हुई अकेली शोभा,
पाती इस की छवि न्यारी ॥१॥

(२)

कलियां और खिली थीं जो सब,
थीं इस की सखियां सारी।
सो सब कुम्हला गईं देखिये,
सूनी है उनकी क्यारी ॥२॥

(३)

सुख दुख दोनों एक साथ ही,
आते हैं बारी बारी।
इन कलिकायों से सूचित है,
विधि-विपाक यह संसारी ॥३॥

—लक्ष्मीधर वाजपेयी।

× × ×

५२

सूरदास

(१)

मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥

कमलनयन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छांड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।
"सूरदास" प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥१॥

(२)

खेलन अब मोरी जात बलैया ।
जबहि मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिजत बल भैया ॥
मोसो कहत तात वसुदेव को देवकी तेरी मैया ॥
मोल लियो कछु दे वसुदेव को करि करि जतन बटैया ॥
अब बाबा कहि कहत नन्द को जसुमति को कहै मैया ॥
ऐसेहि कहि सब मोहिं खिझावत तब उठि चलौ खिसैया ।
पाछे नन्द सुनत हे ठाढ़े हंसत हंसत उर लैया ॥
"सूर" नन्द बलरामहि धिर्‌यो सुनि मन हरख कन्हैया ॥

(३)

मैया मोरी चन्द्र खिलौना लैहों ।
धौरी को पय पान न करिहौं बेनी सिर न गुथैहौं ॥
मोतिन माल न धरिहौं उर पर झंगुली कंठ न लैहौं ॥
जैहौं लौट अभी धरनी पर तेरी गोद न ऐहौं ॥
लाल कहैहौं नंद बबा को तेरो सुत न कहैहौं ॥
कान लाय कछु कहत जसोदा दाउहिं नाहिं सुनैहौं ॥
दाच हू ते अति सुन्दर तोहि नवल दुलहिया ब्यैहौं ॥
तेरी सौंह मेरी सुन मैया अबहिं ब्याहन जैहौं ॥
"सूरदास" सब सखा बराती नूतन मंगल गैहौं ॥

(४)

मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो ।
भोर भयो गैयन के पाछे, मधुबन मोहिं पठायो ।

चार पहर बंसीवट भटक्यो, सांझ परे घर आयो ॥
मैं बालक बहियन को छोटो, छींको केहि विधि पायो ॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो ॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है, जान परायो जायो ॥
यह ले अपनी लकुट कमरिया, बहुतहि नाच नचायो ।
"सूरदास" तब बिहंसि जसोदा तेहि उर कंठ लगायो ॥४॥

(५)

मैया मोरी कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूं है छोटी ॥
जो तू कहति बाल को बेनी ज्यों है लांबी मोटी ॥
काढ़त, गुहत, नहावत, ओछत नागिन सी भ्वैं लोटी ॥
काचो दूध पिलावत पचि पचि देत न माखन रोटी ॥
"सूर" श्याम जीवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥५॥

—सूरदास।

× × ×

५३

राष्ट्र-भाषा

(१)

बानी हिन्दी, भाषन की महारानी ।
चन्द, सूर, तुलसी से या में, कवी भये लासानी ॥
दीन मलीन कहत जो या को, हैं सो अति अज्ञानी ।
या सम काव्य छन्द नहिं देख्यो, है दुनिया भर छानी।

का गिनती उर्दू बंगला की, भरे अंगरेजिहु पानी।
आजहुं या को सब जग बोलत, गोरे, तुरक, जापानी ॥
है भारत की भाषा निहचय, हिन्दी हिन्दुस्तानी ।
'जगन्नाथ' हिन्दी भाषा को, है सेवक अभिमानी ॥

—जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ।

\+ + +

५४

राष्ट्र-सन्देश

[१]

अपनी भाषा है भली, भलो आपनो देश ।
जो कछु अपुनो है भलो यही राष्ट्र संदेश ॥१॥
जो हिन्दू हिन्दी तजें, बोलें इङ्गलिश जाय ।
उन की बुद्धि पै पर्‌यो, निहचय पाथर आय ॥२॥
जाको अपनी जाति को, नहिं नेकहु अभिमान ।
कूकर सम डोलत फिरै, सो तो वृथा जहान ॥३॥
कुल कपूत करनी निरखि, धरनी के उर दाह ।
धधकि उठत सोई कबहुं, ज्वाला गिरि की राह ॥४॥
निरखि कुचाल कपूत की, धरनी धरत न धीर ।
नैनन निरझर सौं झरत, यातैं तातो नीर ॥५॥
देसन में भारत भलो, हिन्दी भाषन माहिं ।
जातिन में हिन्दू भली, और भलो कछु नाहिं ॥६॥

(२)

जिस हिन्दू को है नहीं, हिन्दी का अनुराग ।
निश्चय उस के जान लो, फूट गये हैं भाग ॥१॥

जिस को प्यारी है नहीं, निज भाषा निज देश।
वह सूकर सा डोलता, धरे मनुज का भेष ॥२॥
—जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी।

× × ×

५५

रसखान

(१)

मानस हौं तो वही रसखानि, बसौं बृज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो, धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं वही कालिंदी-कूलकदम्ब की डारना ॥१॥

[२]

ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहुं न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि परयो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन॥
देख्यो दुर्यो वह कुंज कुटीर में, बैठो पलोटत राधिका पायन ॥२॥

(३)

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावें।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावें॥
नारद से सुक ब्यास रटें, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावें।
ताहि अहीर की छोहरियां, छछियां भरि छाछ पै नाच नचावें ॥३॥

(४)

द्रौपदि औ गनिका गजगीध, अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम गेहिनी कैसे तरी, प्रह्लाद को कैसे हर्‌यो दुख भारो॥

काहे को सोच करै रसखानि, कहा करिहैं रविनन्द बिचारो ।
कौन कि सेंक परी है जु माखन चाखन हारो सो राखन हारो ॥४॥

(५)

जब बिरह की आंच लगी तन में, तब जाय परी जमुना जल में ।
बिरहानल ते जल सूक गयो, मछली दह छांड गई तर में ॥
जब रेत फटी रु पताल गई, तब सेस जर्यो धर्ती तर में ।
रसखान कहे एहि आंच मिटे, जब आय के स्याम लगे गर में ॥५॥

दोहे

मोहन छवि रसखान लखि, अब दृग अपने नाहिं ।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाहिं ॥१॥
दम्पति सुख अरु बिषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान ।
इन तै परे बखानिये, सुद्ध प्रेम रसखान ॥२॥
अति सूछम कोमल अतिहिं, अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सबते सदा नित इक रस भरपूर ॥३॥
शास्त्रन पढ़ पंडित भये कै मौलवी कुरान ।
जुपै प्रेम जान्यो नहीं, कहा कियो रसखान ॥४॥
प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय ।
जो पै जानहि प्रेम तो, जग क्यों मरता रोय ॥५॥

× × ×

५६

बताल

(१)

जीभि जोग अरु भोग, जीभि बहु रोग बढ़ावै ।
जीभि करै उद्योग, जीभि लै कैद करावै ॥

जीभि स्वर्ग लै जाय, जीभि सब नरक दिखावै ।
जीभि मिलावै राम, जीभि सब देह धरावै ॥
निज जीभि ओंठ एकाग्र करि बांट सहारे तोलिये ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो, जीभि संभारे बोलिये ॥१॥

(२)

टका करे कुतुहूल टका मिरदङ्ग बजावै ॥
टका चढ़े सुखपाल टका सिर छत्र धरावै ॥
टका माय अरु बाप टका भैयन का भैया ।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया ॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाए रात दिन ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो धिक जीवन इक टके बिन ॥२॥

(३)

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू ।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू ॥
बांभन सो मरिजाय हाथ लै मदिरा प्यावै ।
पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै ॥
अरु बेनियाव राजा मरै तबै नींद भरि सोइये ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो एते मरे न रोइये ॥३॥

(४)

मर्द सीस पर नवै मर्द बोली पहिचानै ।
मर्द खिलावै खाय मर्द चिन्ता नहिं मानै ॥
मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावै ।
गाढ़े संकरे काम मर्द के मर्द हु आवै ॥
पुनि मर्द उनहिं को जानिये दुख सुख साथी दर्द के ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो लच्छन हैं ये मर्द के ॥४॥

(५)

बुधि बिन करै बेपार, दृष्टि बिन नाव चलावै ।
सुर बिन गावै गीत, अर्थ बिन नाच नचावै ॥
गुन बिन जाय बिदेस, अकल बिन चतुर कहावै ।
बल बिन बांधे जुद्ध, हाँस बिन हेतु जनावै ॥
अनइच्छा इच्छा करै, अनदीठी बातां कहै ।
"वैताल" कहै विक्रम सुनौ, यह मूरख की जात है ॥५॥

\+ + +

५७

बुद्ध भगवान् का परिनिर्वाण

नाना देशन माहिं आपनो 'संघ' बनावत ।
घूमि घूमि भगवान् रहे निज बचन सुनावत ॥१॥
कबहुं राजगृह और कबहुं वैशाली जाई ।
कौशांबी अरु श्रावस्ती में कछु दिन छाई ॥२॥
'चातुर्मास्य' बिताय विविध उपदेश सुनावन ।
भूले भटकन को सुन्दर मारग पै लावन ॥३॥
अधिक काल पै श्रावस्ती हि माहिं बितायो ।
जहां 'जेतवन' बीच धर्म बहु कहि समझायो ॥४॥
पैंतालिस चौमासन लौं या धराधाम पर ।
प्रभु समझावत रहे धर्म के तत्व निरन्तर ॥५॥
जगी ज्योति जिनकी जग में ऐसी उजियारी ।
सब देशन को सूझि पर्यो पथ मङ्गलकारी ॥६॥
ध्यावत जाको जग के आधे नर हिय धारे ।
आलोकित हैं जाकी आभा सों मत सारे ॥७॥

अंत काल नियराय गयो जब एक दिवस तब।
'पावा' में प्रभु जाय पधारे शिष्यन लै सब ॥८॥
'चन्द' नाम के कर्मकार के भवन कृपा करि।
पायो भोजन दिया सामने जो वा ने धरि ॥९॥
कुशीनार को गये तहां सों ह्वै पीड़ित जब।
द्वै साखुन के बीच डारि शय्या पौढ़े तब ॥१०॥
परम शांति सों बोलि देत उत्तर जो मांगत।
'परिनिर्वाण' पुनीत लह्यो भगवान् तथागत ॥११॥
मनुजन में रहि मनुज सरिस शुभमार्ग दिखाई।
परम शून्यमय नित्य शांति में गये समाई ॥१२॥

—पं० रामचन्द्र "शुक्ल"।
('बुद्धचरित' से उद्धृत)

\+ \+ \+

५८

लक्ष्मी-स्तुति

दिया है क्यों ऐसा जन्म दुख से पूर्ण जग में।
दिया था तो देती विपिन विटपों में मृगन में ॥
नहीं था कोई भी भय उस पराधीन पथ का।
जहां तेरी लीला ललित रचना देवि लखते ॥
हुई है या होगी इस समय होती सुरचना।
त्रिकालज्ञे, तेरी अमित गति को कौन लखता ॥
बनों में शैलों पै महल बनते देवि ! क्षण में।
वियच्चुम्बी शोभा-खनि भवन होते धरणिसात् ॥
नरेशों पै जो तू परम करुणा देवि ! करती।
हमारे भी माथे पर कमल को क्यों न रखती ॥
सभी गाते तेरी प्रबल समता जो भुवन में।
यहां तो पाते हैं पग पग तुम्हारी विषमता ॥

कणों को भी पाते अति कठिनता से मनुज जो ।
कुरूप अज्ञानी अधम कुल में जन्म जिनका ॥
तुझे पाके-वे ही सब भुवन को तुच्छ गिनते ।
सभी है तेरे ही चरण कमलों की सुरभिता ॥
कुकर्मी दम्भी या निपट पतितों से पतित जो ।
किसी भी श्रेणी का पुरुष यदि हो देवि ! उस पै ॥
दया की धाराएं अविरत तुम्हारी गिर रहीं ।
नहीं क्यों आते हैं मुझ पर दया के कण अहो ॥
यहां तो रोटी को तरस कर रोते हम सभी ।
वहां तू देती है अमृत रस की घूंट उनको ॥
अहो ! कैसी तेरी विषमित क्रिया की विपुलता ।
जहां देखा पाते त्रिगुण जग में बीज इसका ॥
मिलेगा कर्मों का फल यदि हमें नीति यह है ।
उसे तो पावेंगे पर तव महत्ता फल कहां ॥
महारानी, तेरा विधि पर न जो शासन चला ।
वृथा तेरी सत्ता, नियति-नियमों से रुक रहा ॥

ब्रजभूषण नायक* ।

× × ×

---

* पं० ब्रजभूषण शर्मा बुन्देलखण्ड का रहने वाला प्रतिभाशाली नवयुवक विद्यार्थी था। दस बारह बरस से लाहौर आकर शास्त्री, प्रभाकर, अंग्रेजी मैट्रिक की परीक्षाएं पास की थीं। संस्कृत हिन्दी कविता से प्रेम था। कई जलसों में कविता के लिये पारितोषिक पाये। यहां के संस्कृत हिन्दी प्रेमियों में काफी मान और परिचय था। सन् १९३४ में ओरियंटल कालेज के हिन्दी विभाग में रह कर 'साहित्यादर्श' तैयार किया। इसे छपवाने का प्रबन्ध करने के लिये देश जाना हुआ और सन् १९३५ में वहीं इस 'होनहार कवि' का देहान्त हो गया।

५९

शिशिर

सम्पति हीन दीन नंगे से तरुवर शोभा हीन हुये।
शैशिर के इस नग्न दृश्य से हृदय सभी के क्षुब्ध हुये॥
इसी लिये कुवलय विपिनों ने हिम पट से मुंह ढांक लिया।
निठुर शिशिर ने नादिरशाही का शासन स्वीकार किया॥
करो करो, मत हटो शिशिर तुम जी भर अत्याचार यहां।
नैसर्गिक शोभाकर ऐसा विपिन मिलेगा और कहां॥
किन्तु दुखी के कलपाने से नहीं किसी का भला हुआ।
पूर्व प्रतापी राजाओं की दुर्गति का क्या बीज हुआ॥

ब्रजभूषण नायक।

× × ×

६०

रहीम

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम परकाज हित, सम्पति सचहिं सुजान॥१॥
जो रहीम होती कहूं, प्रभु-गति अपने हाथ।
तौ कोधौं केहि मानतो, आप बड़ाई साथ॥२॥
यों रहीम सुख दुख सहत बड़े लोग सह सांति।
उदत चन्द्र जिहि भांति से, अथवत वाही भांति॥३॥
तब ही लग जीवो भलो, दीवो परै न धीम।
बिन दीवो जीवो जगत, हमहिं न रुचै रहीम॥४॥

रहिमन देखि बडेन को, लघु न दीजिये डारि ।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ॥५॥
धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय ।
जियत कंज तजि अनत बसि, कहा भौंर को भाय ॥६॥
सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीति न धीम ।
पै मराल को मानसर, एकै ठौर रहीम ॥७॥
मान सरोवर ही मिलै, हंसनि मुक्ता भोग ।
सफरिन भरे रहीम सर, बक बकुला ही जोग ॥८॥
रहिमन जाचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात ।
नारायण हू को भयो बावन अंगुर गात ॥९॥
रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचै दाम ।
हरि बाढ़ै आकाश लौं. तऊ बावनै नाम ॥१०॥
मांगे घटत रहीम पद, कितौ करौ बढ़ि काम ।
तीन पैर बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥११॥
संतत संपति जानि के, सब को सब कछु देइ ।
दीनबन्धु बिन दीन की, को रहीम सुधि लेइ ॥१२॥
समय दसा कुल देखि के लोग करत सन्मान ।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान ॥१३॥
सर सूखे पंछी उड़े, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पच्छ के, कह रहीम कहं जाहिं ॥१४॥
राम न जाते हरिन सङ्ग, सीय न रावन साथ ।
जो रहीम भावी कतहूं, होत आपने हाथ ॥१५॥
कहु रहीम कैसे निभै, बेर केरु को संग ।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अङ्ग ॥१६॥
जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ तितही इतराय ।
प्यादे से फरजी भयो टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥१७॥

रहिमन सूधी चाल सों प्यादा होत वजीर।
फरजी मीर न हो सके, टेढ़े की तासीर ॥१८॥
खीरा के मुंह काटि के, मलियत लोन लगाय।
रहिम्न करुवे मुखन को, चहिये यही सजाय ॥१६॥
जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर स्वान स्वाद सों खात ॥२०॥
कमला थिर न रहीम कहिं, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय ॥२१॥
रहिमन कहत सु पेट सों, क्यों न भयो तू पीठ।
रीते अनरीते करत, भरे बिगारत दीठ ॥२२॥
जे गरीब सों हित करें, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा वापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥२३॥
दिव्य दीनता के रसहिं, का जाने जग अंधु।
भली बिचारी दीनता, दीन-बन्धु से बन्धु ॥२४॥
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥२५॥
जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन बिष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥२६॥
आप न काहू काम के, डार पात फल मूर।
औरन को रोकत फिरैं, रहिमन कूर बबूर ॥२७॥
जो बड़ेन को लघु कहौ, नहिं रहीम घटि जाहिं।
गिरधर मुरलीधर कहे कछु दुख मानत नाहिं ॥२८॥
बड़े दीन को दुख सुनैं, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥२६॥

रहिमन राम न उर धरे, रहत विषय लिपटाय।
पसु खर खात सवाद सों गुर गुलिया ये खाय ॥३०॥
प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहां समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय ॥३१॥
जेहि रहीम तन मन दियो, कियो हिये बिच भौन।
तासों दुख सुख कहन की, रही बात अब कौन ॥३२॥
जो पुरुषारथ ते कहूं, सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम ॥३३॥
सब कोऊ सब सों करै, राम जुहार सलाम।
हित रहीम तब जानिये, जा दिन अटकै काम ॥३४॥
ज्यों रहीम गति दीप की कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अन्धेरो होय ॥३५॥
सम्पति भरम गंवाय के, हाथ रहत कछु नाहिं।
ज्यों रहीम ससि रहत हैं, दिवस अकासहि माहिं ॥३६॥
अनुचित उचित रहीम लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संजोग ते, पचवत आगि चकोर ॥३७॥
धनि रहीम जल पङ्क को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥३८॥
रहिमन नीचन सङ्ग बसि, लगत कलङ्क न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि ॥३९॥
अमृत ऐसे बचन में, रहिमन रिस की गांस।
जैसे मिसरिहु में मिली, निरस बांस की फांस ॥४०॥
गुन ते लेत रहीम जन, सलिल कूप ते काढ़ि।
कूपहु ते कहुं होत है, मन काहू को बाढ़ि ॥४१॥

रहिमन मन महाराज के, दृग सों नहीं दिवान।
जाहि देखि रीझै नयन, मन तेहि हाथ बिकान ॥४२॥

रहिमन लाख भली करौ, अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियत हू सांप सहज धरि खाय ॥४३॥

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥४४॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोय।
रहिमन बिगरे दूध को, मथै न माखन होय ॥४५॥

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बांटि न लैहैं कोय ॥४६॥

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देख दिनन के फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै बेर ॥४७॥

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं।
उन ते पहिले वे मुए जिन मुख निकसति नांहि ॥४८॥

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानुस चून ॥४९॥

खैर खून खांसी खुसी, बैर प्रीति मधु पान।
रहिमन दाबे न दबै जानत सकल जहान ॥५०॥

अब रहीम मुसिकल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम ॥५१॥

रहिमन विपदा तू भली, जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जान परत सब कोय ॥५२॥

छिमा बड़ेन को चाहिये छोटेन को उतपात।
का रहीम हरिको घट्यो जो भृगु मारी लात ॥५३॥

रहिमन सुहि न सुहाय, अमी पियावत मान बिन ।
जो विष देय बुलाय, प्रेम सहित मरिबो भलो ॥५४॥
धूर धरत नित सीस पर, कहु रहीम केहि काज ।
जिहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूंढत गजराज ॥५५॥
ओछे काम बड़े करैं, तौ न बड़ाई होइ ।
ज्यों रहीम हनुमन्त को, गिरधर कहै न कोइ ॥५६॥
तैं रहीम चित आपनो, कीन्हो चतुर चकोर ।
निसि बासर लाचो रहै कृष्णचन्द्र की ओर ॥५७॥